काव्यांगिनी

[छायावादोत्तर कवियों की प्रतिनिधि
कवितात्रों का संकलन]

सम्पादक :
भ० ह० राजरकर
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
मराठवाड़ा विश्वविद्यालय, औरंगाबाद

पंचशील प्रकाशन, जयपुर

प्रकाशक : पंचशील प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, जयपुर–302003

संस्करण : [redacted]

मूल्य : पन्द्रह रुपये (सजिल्द)

मुद्रक : शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर–302003

KAVYANGINI (*Poems*)
Edited by Dr. B. H. RAJOORKAR

प्राक्कथन

गत पैंतीस वर्षो में हिन्दी कविता ने रेखाङ्कित किए जाने योग्य विकास है; किन्तु स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षाओं के लिए इस दृष्टि से पाठ्यक्रम ौपचारिक रूप से ही समायोजित किया जाता रहा है। 'छायावाद' तक के का पाठ्यक्रमों में जैसा गम्भीरता पूर्वक आयोजन रहा है, छायावादोत्तर काव्य उस गम्भीरता से नहीं लिया गया है, जिसका परिणाम यह भी हुआ है कि विद्यालयों से निकलने वाले छात्र काव्य के अद्यतन रूप से तो कठिनाई से चेत हो ही पाते हैं, भविष्यत् शोध-कर्म के लिए भी वे जीवित और आधुनिक ानायुक्त साहित्य के लिए दृष्टि विकसित करने में स्वय को पूरी तरह प्रस्तुत कर पाते और साथ ही वे स्वातन्त्र्योत्तर काव्य के प्रति संवेदनात्मक और ोचनात्मक स्तर पर अपने संस्कार नहीं वना पाते। इस तरह काव्य के रसा-दन के लिए संस्कार निर्मित न हो पाने के कारण जो व्यवधान उपस्थित हो ा है वह स्वातन्त्र्योत्तर काव्य की समीक्षा और शोध मे अध्येता को आग्रह बद्ध देता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत संकलन और इसकी भूमिका उस रिक्ति पर बनाने का प्रयत्न है, जो छायावाद और परवर्ती काव्य के मध्य निर्मित हो है। हमें यह भी आशा है कि छायावादोत्तर कविताओं का पाठ और उससे बन्धित भूमिका इस दिशा में शोधार्थियों की भी कुछ सहायता कर सकेगी।

छायावादोत्तर समर्थ कवियों की एक लम्बी शृंखला है। स्पष्ट है संकलन मत कलेवर के कारण उन सभी कवियों की रचनाओं को यहाँ स्थान नहीं ल सका है; किन्तु हमने यह प्रयत्न अवश्य किया है कि छायावादोत्तर काव्य का ा प्रतिनिधि संकलन बनाया जाय और जिन कवियों की कविताओं को लिया गया वे कवि और प्रकारान्तर से वे कविताएं जो इस संग्रह में संकलित हैं, छाया-ादोत्तर अद्यतन कविता और उस पर सम्पूर्ण आन्दोलनात्मक गतिविधियों और मीक्षात्मक हलचलों से उद्भूत एक सम्पूर्ण पहचान से पाठक को परिचित करा

सकें । इस दृष्टि में प्रस्तुत संकलन कितना सफल है, इसका मूल्यांकन पाठकों पर ।

अन्त में हम उन समस्त कवियों, जिनकी कविताएं यहां संकलित हैं तथा जिनके काव्य उदाहरणों के माध्यम से हम छायावाद की परवर्ती कविता की यह पहचान अध्येताओं तक पहुंचा रहे है, कृतज्ञ है; क्योकि उनके सहयोग के अभाव में यह संकलन अधूरा ही रहता । पंचशील प्रकाशन के श्री मूलचन्द जी गुप्ता का भी आभारी हूँ, जिन्होने तत्परता और सुरुचि के साथ इस पुस्तक को प्रकाशित किया ।

—संपादक

अनुक्रम

छायावादोत्तर काव्य की भूमिका

रीतिकालीन कविता के प्रति प्रतिक्रिया व बदलती युग चेतना एवं राष्ट्रीयता की भावना ने जिस कविता को प्रेरणा दी वह भारतेन्दु युगीन कविता (सन् 1850 से 1900 तक) में किंचित् प्रतिफलित हुई, किन्तु पुनर्जागरण की नयी चेतना के पश्चात् भी कविता अपने लिए व्रजभाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का उचित माध्यम मान रही थी जबकि गद्य रूपों—नाटक, कहानी, उपन्यास आदि में खड़ी बोली का आविर्भाव हो चुका था। खड़ी बोली की सम्पूर्ण शक्ति को जिस कविता ने अपना आधार बनाया वह द्विवेदी युगीन कविता (1900 से 1920 तक) है। यद्यपि जगन्नाथ दास 'रत्नाकर, सत्यनारायण कविरत्न' और वियोगी हरि जैसे कवि अभी भी व्रजभाषा में ही काव्य रचना कर रहे थे, किन्तु मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय, हरि औध, गोपालशरण सिंह, नाथूराम शर्मा, 'शंकर' श्रीधर पाठक, सियारामशरण गुप्त, देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामचरित उपाध्याय आदि ने खड़ी बोली को ही काव्य अभिव्यक्ति का माध्यम चुना था। राष्ट्रीय जागरण प्राचीन गौरव की पुनः अनुभूति, सामाजिक जागरुकता व रूढ़िवादिता के विरुद्ध होने पर भी भारतेन्दु युगीन कविता में शृंगार का स्वर प्रमुख था, जिसमें रीतिकालीन कविता से सम्पूर्ण विच्छेद दृष्टिगोचर नहीं होता।

द्विवेदी युगीन कविता ने शृंगारपरकता के विरुद्ध सौन्दर्य की आदर्शमयी दृष्टि को केन्द्र में रखा। पुनरुत्थानवादी दृष्टि को यथार्थवाद से सम्पृक्त किया। पश्चिमी अवांछित प्रभाव के प्रति सजगता और बौद्धिक दृष्टिकोण को महत्त्व दिया। मर्यादावादी दृष्टि के कारण इस युग में कविता इतिवृत्तात्मक, किंचित् कल्पनाहीन, किसी सीमा तक नीरस और शिल्प के स्तर पर नवीनता के आग्रह के लिए अवकाशहीन रही। इस कविता में वस्तु के स्तर पर आदर्श परिवार की परिकल्पना, अस्पृश्यता की समस्या, नारी का सामाजिक सम्मान, नारी शिक्षा, विधवा और बाल विवाह की समस्या तथा सामाजिक रूढ़ियों के प्रति संघर्ष सब कहीं प्रमुखता से रेखाङ्कित होता चलता है और इस सब में देश प्रेम की सर्वोपरिता अपना वैशिष्ट्य बनाए रखती है।

द्विवेदी युगीन कविता जो कि रीतिकाल और भारतेन्दु युगीन कविता से अनेक अर्थों में विशिष्ट लग रही थी अधिक समय तक कवि मानस और परिवर्तित परिस्थितियों की अभिव्यक्ति का सम्यक् माध्यम बनकर नहीं रह सकी। नवता के प्रति आकर्षण को उससे प्रेरणा नहीं मिल रही थी। मन के कोमल और शृंगारिक भावों के लिए वहाँ अनवकाश था। नैतिकता और अति मर्यादा ने कविता को शुष्क बना दिया था। अपने आदर्शवादी चरित्र और कल्पनाहीनता ने उसमें स्थिरता उत्पन्न कर उसे ठोस बना दिया और वह सामाजिक संदर्भ में यथार्थवादी भूमि पर अपनी भूमिका निभा पाने में अक्षम हो रही थी। मर्यादा के विरुद्ध कल्पना और नैतिकता के विरुद्ध शृंगार कवि मानस में करवटें बदल रहा था। परिणामस्वरूप प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक था और यह प्रतिक्रिया काव्य जगत में छायावादी आन्दोलन के रूप में प्रस्फुटित हुई। देशी-विदेशी अनेक दूसरे कारण भी इसकी पृष्ठभूमि में थे। किन्तु आदर्शवादी चिन्तन और महावीरप्रसाद द्विवेदी की मर्यादा-वादी आलोचना के अंकुश ने कवियों की शृंगारिक अनुभूतियों को रीतिकालीन शृंगार तक जाने से बचाए रखा। जिसका परिणाम यह हुआ कि शिल्प स्तर पर अनेक प्रयोग हुए और शृंगारिक भावनाओं को अभिव्यक्ति देने के लिए कवियों ने प्रकृति को माध्यम बनाया—

"नवोढा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर"

—सुमित्रानन्दन पंत

उनका प्रेम निवेदन रहस्यमय होने लगा

"नभ हँसता है संकेत भरा अलि
क्या प्रिय आने वाले हैं।"

—महादेवी वर्मा

"बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।"

—महादेवी वर्मा

उनके संयोग शृंगार के चित्र भी भावी पत्नी को ही सम्बोधित थे—

"आज रहने दो यह गृह कार्य
प्राण रहने दो यह गृह कार्य।"

—सुमित्रानदन पंत

शृंगार का संयोग पक्ष यदि मांसल भी था तो कलात्मक अभिव्यक्ति ने उसे अधिक झीना बना दिया था—

"परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुख चन्द्र चांदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।"

—जयशंकर प्रसाद

शृंगार का सीधा चित्रण न होकर माध्यम प्रकृति बन रही थी। प्रकृति के माध्यम से शृंगार की अभिव्यक्ति का निराला की 'जूही की कली' कविता एक विशिष्ट उदाहरण है।

वेदना की विवृत्ति, प्रेम और यौवन का गायन विश्व मैत्री और अखिल मानवता की चेतना ने कवियों के मानस का निर्माण किया। अभिव्यक्ति इनकी परिनिष्ठित हुई और साँचे मे ढल गई। कल्पना की रगीनी ने इन कवियो को कविता को स्तर दिया। किन्तु आदर्शवादिता के कारण स्त्री, प्रेम और सौन्दर्य को लेकर ये कवि अति वायवी हो उठे। सौन्दर्य के जिन चित्रों को ये कवि खचित कर रहे थे, वे अत्यन्त अशरीरी थे—

"कुसुम कानन अंचल में मंद
पवन प्रेरित सौरभ साकार
रचित परमाणु पराग शरीर
खडा हो ले मधु का आधार
और पड़ती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु–राका मन की साध
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदृश अगाध।"

—जयशंकर प्रसाद

यह अशरीरीपन इन कवियों के काव्य में अनुभूति से होकर शिल्प स्तर तक देखा जा सकता है, कदाचित् इसी कारण डॉ० नगेन्द्र ने छायावाद को सूक्ष्म का स्थूल के प्रति विद्रोह कहा है। लेकिन इस विद्रोह ने नारी को हाड़ माँस की एक मानवीय इकाई से परे मात्र काव्य-स्वप्न की वस्तु बना दिया। उसके प्रति आदर्श के अतिरेक ने उसे मानवी की अपेक्षा देवी अधिक बना दिया। दुध मुँही जिज्ञासा और प्रेम-सौन्दर्य की किशोर दृष्टि ने कविता को सीमाबद्ध कर दिया। जीवन के यथार्थ

और जीवन्तता से वह कटने लगी; उसमें ठहराव आ गया और अति सूक्ष्म और वस्तु के काल्पनिक चित्रण ने उसकी लय को और अभिव्यक्ति को चित्र बोझिल और रुग्ण बना दिया। नवीनता के लिए पुनः अनवकाश हो गया। नवीनता के प्रति ललक, प्रेम और सौन्दर्य के अधिक यथार्थवादी रूप, काव्य के प्रचलित मुहावरे के प्रति एक सीमा तक विद्रोह, स्त्री-पुरुष की संज्ञाओं को लेकर घिरते हुए द्वन्द्व और अभिव्यक्ति के टटकेपन ने छायावादी काव्य चेतना के विरुद्ध कवि मानस को आन्दोलित किया। किन्तु ये कवि छायावादी संस्कारों से पूर्णतः मुक्त नहीं थे। इन कवियों में प्रमुख थे रामधारी सिंह दिनकर, हरिवंशराय बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', शिवमंगलसिंह सुमन, अंचल, नागार्जुन, माखनलाल चतुर्वेदी आदि।

छायावादोत्तर उपर्युक्त कवियों में अभिव्यक्ति अधिक सीधी और अनुभूति का स्वरूप यथार्थ के अधिक निकट था। देश-प्रेम के स्तर पर 'दिनकर' युद्ध को अनुचित मानते हुए भी प्रतिरोध की शक्ति को विकसित करने के पक्ष में थे। उनका यह चिन्तन 'परशुराम की प्रतीक्षा' और 'कुरुक्षेत्र' काव्य ग्रन्थों में अभिव्यक्त हुआ है। प्रेम और सौन्दर्य के आकर्षण दिनकर 'रसवन्ती' में अभिव्यक्त कर रहे थे—

"एक चितवन के शर ने देवि
सिन्धु को बना दिया परिमेय
विजित हो दृग मद में सुकुमारि
झुका पद तल पर पुरुष अजेय
× × ×
पिया शैशव ने रस पीयूष
पिया यौवन ने मधु मकरंद
तृषा प्राणों की पर हे देवि
एक पल को न सकी हो मंद।"

—रामधारीसिंह 'दिनकर'

किन्तु नारी की मांसलता को लेकर उनका द्वन्द्व 'उर्वशी' में अपने चरम पर था—

"रूप का रसमय निमन्त्रण
याकि मेरे ही रुधिर की वह्नि
मुझको शान्ति से जीने न देती
हर घड़ी कहती उठो

इस चन्द्रमा को हाथ से धरकर निचोड़ो
× × × ×
किन्तु रस के पात्र पर ज्योंही लगाता हूँ—अधर को
घूँट या दो घूँट पीते ही
न जाने किस अतल से नाद यह उठता
'अभी तक भी न समझा
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।"

हरिवंशराय 'बच्चन' निर्माण और संघर्ष के गीत गाते हुए भी प्रेम और सौन्दर्य के प्रति यथार्थपरक दृष्टि को अपना रहे थे। स्त्री को लेकर छायावादी नारी परिकल्पना का स्वरूप अब टूट रहा था।

नरेन्द्र शर्मा स्त्री के प्रेम निवेदन और वियोग पीड़ा के आत्मिक भाव रूपों को अधिक सार्थक अभिव्यक्ति दे रहे थे। उनका वियोग-दुख और प्रेम की परिकल्पना इसी जीवन के थे। अतः उनकी कविता में स्त्री की प्रतिष्ठा मानवीय इकाई के रूप में हुई। बच्चन की कविता में शृंगारिक भावनाएँ स्त्री के यथार्थ रूप से अधिक जुड़ी हुई हैं। रीतिकालीन यौवन और प्रेम की माँसलता से भिन्न बच्चन की कविता में माँसल शृंगार का चटक वर्णन है। उनका दुख और सुख जीवन की साक्ष्य के अधिक निकट है—

"मैंने अपनी स्मृति की इमारत से
निकालकर फेंक दिया था सारा सामान—
भोगी–झेली सुख दुख की पुरानी घड़ियाँ
धूमिल धुँधली पड़ी तस्वीरें बुतां
कीड़े लगे दीमक खाए हसीनों के खतूत
मुहब्बतों के झूठे कस्में, वादे, झूठे सबूत
× × × ×
नए नए प्रेम में पड़े युवा–युवतियों के जोड़े
अपने ख्वाबों की रंगारंग दुनियां सजाते
निराश प्रेमी अपने गम और मातम का गीत गाते।"

प्रेम के स्मृति चित्रों में बच्चन ऐसा संसार रच रहे थे, जो छायावादी प्रेम संसार से भिन्न परिचित जीवन का था—

"वहुत दिन वीते/टहलते अनमने से
उस उनींदे ताल तट पर
हम अचानक आ खड़े थे
और तुमने प्रश्न पूछा
'प्यार' क्या है ?
घर-गली-दीवार-दर से दूर जैसे
नील नभ के तले/पानी के निकट
इस प्रश्न का उत्तर सहज ही।''

छायावादी कवियों को नारी से अधिक नारी की कल्पना ही प्रिय थी। इस कल्पना की झलक छायावादोत्तर काल के कवि दिनकर की 'उर्वशी' में स्पष्टतः दिखाई देती है। किन्तु वालकृष्ण शर्मा 'नवीन' 'क्वासि' में छायावाद से हटकर लिख रहे थे।

नरेन्द्र शर्मा अक्सर अतृप्त कामेच्छाओं की अभिव्यक्ति नारी को लेकर कर रहे थे। यहाँ नारी की कल्पना नहीं थीं, जीती जागती नारी थी अपने सामाजिक परिवेश में और अपनी देह यष्टि के भौतिक सौन्दर्य के साथ। प्रेयसी द्वारा 'कोट के वटन होल' में लगायी गई गुलाव कली की प्रथम प्रेमोपहार स्मृति नरेन्द्र शर्मा को तरोताजा वनाए हुए थी—

"तुम्हें याद है क्या उस दिन की
नए कोट के वटन होल में
हँस कर प्रिये लगा दी थी जव
वह गुलाव की लाल कली।"

धर्मवीर भारती को नारी प्रेम से अधिक नारी का देह सौन्दर्य आकर्षित कर रहा था—

"शीशे में अनजाने तन के आभास हिले
अन देखे पग में जादू के घुँघरू छमके।"

इसी प्रकार जगदीश गुप्त की कविताओं में भी नारी का देह पक्ष ही प्रमुख हो रहा था—

"केवल तुम्हारे वक्ष की गहराइयों को चूम
सव वीत जाएगी उमर।"

'माता से पहले प्रेयसी' नारी का भौतिक सौंदर्य ही गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं में छायावादी नारी सौंदर्य-परिकल्पना को वदल रहा था—

"सदा ही से है ऐसा रंग
आज ही नहीं गाल कुछ लाल
उषा की भी तो पड़ती छाँह
नींद में या मिज गए प्रवाल।"

छायावादी काव्य के प्रति जो प्रतिक्रिया हुई थी, वह दो रूपों में प्रस्फुटित हुई। जीवन और जगत की समस्याओं को जो लोग मार्क्सवादी चिन्तन के आधार पर विवीक्षित करना चाहते थे, उन्होने काव्य को समाज की आँख और कान माना। छायावाद में कवि असीम और अनत की खोज में कल्पना के उन शिखरों पर विचर रहा था, जहाँ यथार्थ और जीवन की भयावह वास्तविकताएँ उपेक्षित और अप्रासंगिक हो जाती हैं। इसके विरुद्ध मार्क्सवादी चिन्तन के आधार पर जीवन का कटु यथार्थ, शोषण, सामाजिक असमानता, अन्याय, वर्ग चेतना, पूँजीवाद, साम्राज्यवाद और सामन्तवाद का विरोध जिस काव्य-आन्दोलन का केन्द्रीय विषय बना उसने 'प्रगतिवाद' की संज्ञा ग्रहण की। प्रगतिवादियों ने बौद्धिकता और भौतिकता को काव्य में प्रश्रय दिया। उनकी कविता में सामाजिक अन्याय के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया हुई। निराला 'वह तोड़ती पत्थर' और कुकुरमुत्ता' में इस दृष्टि का परिचय दे चुके थे बल्कि 'कुकुरमुत्ता' में तो पैने व्यंग्य के साथ उनकी अभिव्यक्ति अधिक सपाट और अधिक मार करती हुई है—

"अबे सुन वे गुलाब
भूल मत जो पाई खुशबू रंगो आब
खून चूसा खाद का तूने अशिष्ट
डाल पर इतरा रहा है कैपिटलिस्ट
×　　　×　　　×
घड़ों पड़ता रहा पानी
तू हरामी खानदानी।"

व्यंग्य का पैनापन और सुविधा भोगी पूँजीपतियों के प्रति तीव्र आक्रोश प्रगतिवादियों की कविता की पहचान के प्रमुख स्वरों में से एक है। सामन्तवाद और पूँजीवाद द्वारा किसान-मजदूर का शोषण इन कवियों की काव्य चेतना को लौदे रहा था। सामाजिक क्रान्ति के गीत लिखने के लिए उन्हें उद्वेलित कर रहा था। एक ऐसे वर्गहीन समाज की रचना उनका लक्ष्य वन रही थी, जहाँ शोपण और विपमता के लिच अवकाश न होगा।

केदारनाथ अग्रवाल अपनी कविताओं में क्रान्ति की पुकार लगा रहे थे। यह पुकार जन शोषण के विरुद्ध की गई थी—

"आज जनता के सिपाही
दौड़ जनता है विकलतर
मूर्च्छना तो है पराजय
चेतना है जीत प्रियतर।"

जन शोषक व्यवस्था जिसके आँख-कान नहीं है। जो जन की दुर्दशा को नहीं देखती उसकी पीड़ा को नहीं सुनती। वह हाथ-पावों से निकम्मी है और परजीवी है, श्रम का महत्त्व वहाँ नहीं है। केदारनाथ अग्रवाल प्रतीकात्मक शैली में इस व्यवस्था को ध्वस्त करने का आह्वान करते हैं—

"पत्थर के सिर पर दे मारो अपना लोहा
वह पत्थर जो राह रोक कर पड़ा हुआ है
× × ×
जो कि प्रार्थना और प्रेम से एक इंच भी नहीं डिगा है
जिसकी ठोकर खाते-खाते इन्सानों की टुकड़ी टूटी।"

इन कवियों की दृष्टि में 'गान्धीवाद' का हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त सार्थक नहीं है, इसलिए व्यवस्था परिवर्तन क्रान्ति से ही सम्भव है, हृदय परिवर्तन के माध्यम से नहीं, क्योंकि पूंजीवाद के कुछ अंतर्निहित बुनियादी स्वार्थ हैं, जिन से वर्ग संघर्ष होता है—

"पूंजीपति अपने बेटे को
बेहद काला दिल देता है
सिरहाने रखकर सोने को
दिन में पैसा ठग लेने को
रोकड़ खाते सब देता है
गरदन काट कलम देता है।
× × ×
जब तक जीता रहता है
शोषण की शिक्षा देता है।"

पूँजीवाद चूँकि परजीवी व्यवस्था है इसलिए वहाँ मानवीय श्रम का महत्त्व नहीं है। प्रगतिवादी मानवीय श्रम को सामाजिक चिन्तन का मूल्य मानते हैं और उसकी महत्ता को गाते हैं—

"कीचड़ कालिख से सने हाथ
इनको चूमो
सौ कामिनियों के लोल कपोलों से बढ़कर
जिसने दुनियाँ को अन्न खिलाया है।"

—शिवमंगलसिंह सुमन

यह मानवीय श्रम कृषक मजदूर का ही श्रम है, जो इस पृथ्वी की सारी सामाजिक समृद्धि का आधार है—

"छोटे हाथ
जड़ को चेतन
पानी को पय
मिट्टी को सोना करते हैं
किसानी करते—
बीज नया बोया करते हैं
आने वाले वैभव के दिन,
उँगली से टोया करते हैं।"

—केदारनाथ अग्रवाल

इसी श्रम से जन्य वैभव का शोषण पूँजीवादी व्वस्था कर रही है और इस व्वस्था के सक्रिय अंग हैं—नौकरशाही, न्यायपालिका और अफसरशाही, जिनके अत्याचारों के नीचे निरन्तर कराह रहा है सर्वहारा। केदारनाथ अग्रवाल की 110 का अभियुक्त कविता में यह सत्य उद्घाटित है। शोषण के कारण जो सामाजिक विषमता अर्थ केन्द्रित होकर उत्पन्न हुई है, और शोषण की शक्ति जिन हाथों में केन्द्रित हो गई है और जिन्होंने मेहनतकश किसान-मजदूर को भूखा रहने पर विवश कर दिया है। उन शक्ति केन्द्रों को क्षमा कर देना प्रगतिवादी कवि अपनी नैतिकता के विरुद्ध मानता है—

"पर जिन्होंने स्वार्थ वश जीवन विषाक्त बना दिया है
कोटि-कोटि बुभुक्षितों का कौर तलक छिना लिया है
बिलखते शिशु की व्यथा पर दृष्टि तक जिननेन फेरी
यदि क्षमा कर दूँ उन्हें धिक्कार माँ की कोख मेरी।"

—शिव मंगलसिंह 'सुमन'

दलितों, पीड़ितों, शोषितों, सर्वहारा और कमजोर वर्ग के प्रति प्रगतिवादियों की सहानुभूति का कारण सामाजिक विषमता ही है, जिसे रामधारीसिंह दिनकर भी अनुभव करते हैं—

"श्वानों को मिलता दूध वस्त्र भूखे बालक अकुलाते हैं
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं।
युवती के लज्जा वसा बेच जब व्याज चुकाए जाते हैं
मालिक जब तेल फुलेलों पर पानी सा द्रव्य बहाते हैं
पापी महलों का अहंकार देता तब मुझको आमन्त्रण।"

प्रगतिवादी चेतना से अनुप्राणित होकर छायावाद के प्रतिष्ठित कवि सुमित्रानन्दन पंत साम्राज्यवाद को पूँजीवादी व्यवस्था का आवश्यक परिणाम मान रहे थे और विश्व-मानव हित में इस व्यवस्था के अनौचित्य को हृदयंगम कर रहे थे, इसलिए वे एक ओर पूँजीवाद की रात्रि के समापन पर आल्हादित हो रहे थे, तो दूसरी ओर साम्यवाद का मुक्त कंठ से अभिनंदन कर रहे थे—

"रजत स्वप्न साम्राज्यवाद का ले नयनों में शोभन
पूँजीवाद निशा भी है होने को आज समापन

× × ×

साम्यवाद के साथ स्वर्ण युग करता मधुर पदार्पण
मुक्त निखिल मानवता करती मानव का अभिनंदन।"

और मानव हित में गान्धीवाद और साम्यवाद की परस्पर पूरक भूमिका की विवीक्षा कर रहे थे—

"गान्धीवाद जगत में आया ले मानवता का नवमान
साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जन तन्त्र महान।

प्रगतिवाद के प्रति जहाँ पंत की मात्र बौद्धिक सहानुभूति थी, वहाँ निराला उसके साथ पक्षधर थे। उन्होंने सामाजिक विषमता के कारण मानवीय पीड़ा का गहरा साक्षात्कार किया था—

"दो टूक कलेजे के करता
पछताता पथ पर आता
पेट पीठ हो रहे एक
चल रहा लकुटिया टेक
मुट्ठी भर दाने को

भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।"

प्रगतिवादी काव्य में पूँजीवाद और सामन्तवाद के साथ-साथ फासिज्म और नाजीवाद का भी विरोध हुआ है। शिवमंगलसिंह सुमन की 'मास्को अब भी दूर है'—'स्तालिन ग्राद' 'लाल सेना' तथा रांगेय राघव के खण्ड काव्य 'अजेय खण्डहर' को इस दृष्टि से देखा जा सकता है। साम्राज्यवादियों की लोलुपता की शिकार वियतनामी जनता पर अत्याचारों के चित्रों केम ाव्यम से 'वियतनाम' कविता में सुमन साम्राज्यवाद के विरुद्ध जन की घृणा अर्जित करना चाहते हैं।

प्रगतिवादी, मानवता की सम्पूर्ण स्थापना मे जन-जन को शोषण मुक्त करने और सामाजिक न्याय दिलाने में धर्म और ईश्वर को बाधक मानते हैं; क्योंकि ईश्वर और धर्म के नाम पर जन को नियतिवादी और अन्ध विश्वासी बनाया जाता रहा है। सामन्तवाद की शक्ति के पीछे धर्म और ईश्वर के नाम की भूमिका कम नहीं रही है। धर्म और ईश्वर व्यक्ति को असंगठित, पंगु और अपनी दुर्दशा और दुख के निवारण में असमर्थ बनाता है। स्वातन्त्र्य चेतना को कुंठित करता है और जन-मुक्ति विरोधी चालाक शक्तियों का बल देता है। इसलिए धर्म और ईश्वर के धोखे को समझ कर कवि उस दिशा से जन को सावधान करना चाहता है; क्योंकि उसकी जन-दुख और जन-शोषण में उसकी ऐतिहासिक भूमिका है—

"ऊपर बहुत दूर रहता है शायद आत्मप्रवंचक एक
जिसके प्राणों मे विस्मृति है, उर में सुख श्री का अतिरेक
जिसको ले ले नाम युगों से साँस लुटाते तुम रोए
किन्तु न चेता जो निशि-निशि भर तब तक क्षुधातुर हो तुम सोए
आज अस्त हो जाय वही अभिशाप अनय रौख पोषक
और वही दुर्दान्त महा उन्मत्त हड्डियों का शोषक।"

—अंचल

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या और वर्ग संघर्ष की चेतना को आत्मसात् कर प्रगतिवादियों ने कृषक और मजदूर वर्ग के प्रति व्यापक सहानुभूति को अपनी कविता का केन्द्रीय विषय तो बनाया किन्तु अधिकांशत: रचनात्मक स्तर पर वे इसके कलात्मक चित्र प्रस्तुत न कर सके, इसके कारण उनकी कविता सिद्धान्त बुभौअल, प्रचारात्मक और नारे बाजी का पर्याय होकर ही रह गई। छायावाद की तरह प्रगतिवादी कोई महा कृति नहीं दे सके, यद्यपि उनका लक्ष्य महान था, जैसा कि प्रगतिशील लेखक संघ के प्रथम

अधिवेशन में मुंशी प्रेमचंद ने कहा था कि "हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते, हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो- सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाइयों का प्रकाश हो—जो हममें गति संघर्ष बेचैनी पैदा करे, सुलाये नहीं, क्योंकि अब और ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है।"

कहना न होगा कि प्रगतिवादियों द्वारा पूरी तरह परिभाषित किये हुए अपने साहित्यिक उद्देश्य के पश्चात् भी वे अपने ही शब्दों—'सौंदर्य का सार', 'स्वाधीनता का सार' और 'सृजन की आत्मा' की आत्मा को काव्य में सिद्ध न कर सके, गद्य लेखन मे और बौद्धिक चर्चाओं में यद्यपि प्रगतिवादियों को पर्याप्त सफलता मिली, लेकिन काव्य स्तर पर—

"सुनो साथियो अमरीका के शहर शिकागो की है बात
ओले सी गोलिया चली थीं, हुई खून की थी बौछार"

अथवा

"लाल रूस का दुश्मन साथी, दुश्मन सब इन्सानों का"

ऐसी प्रचारात्मक कविताओं का अम्बार लग गया। छायावादी युग की महान कृतियों की तरह प्रगतिवाद में महान कृतियों का अभाव कदाचित् इसलिए भी रहा कि युग की काव्य-रचना-प्रतिभा छायावाद की तरह संगठित न रह कर दो दिशाओं में बंट गई थी। मार्क्सवादी चिन्तन को काव्य का रचनात्मक आधार न मान कर जो कवि धारणात्मक सत्यों से परे मानवतावाद से जुड़ कर काव्य-स्तर के प्रति भी चिन्तित थे, उन्होंने काव्य में प्रयोगों और अन्वेषण की राहें पकड़ीं। जिसके आधार पर इस काव्य धारा को 'प्रयोगवाद' जैसी संज्ञा दी गई, यह इसलिए भी कि 'तार सप्तक' के सम्पादकीय में अज्ञेय ने बार-बार 'प्रयोग' शब्द का प्रयोग किया था। लेकिन समीक्षकों ने अज्ञेय के 'राहों के अन्वेषी' शब्द पर ध्यान नहीं दिया और प्रयोगों की आत्यन्तिकता से युक्त स्तरहीन काव्य के उदाहरणों के जरिये 'प्रयोगवाद' को काव्य का स्तरहीन आन्दोलन सिद्ध करने का प्रयास किया। वस्तुतः 'प्रयोग' 'नवीनता' के प्रति एक जागरूक दिशा भर थी, वह कोई स्वयं में आन्दोलन नहीं था, जैसा कि 'तार सप्तक' के दूसरे संस्करण के प्रकाशन में कवियों द्वारा स्वयं को प्रयोगवादी न मानने वाले वक्तव्यों ने सिद्ध भी हो जाता है। दरअसल ये कवि 'छायावाद' की जीवन विमुखता, अति भावुकता, अति कल्पना शीलता और उसकी किशोर आदर्शवादिता के विरुद्ध तीखी प्रतिक्रिया

से परिचालित थे। चूँकि प्रबुद्ध सृजनशील काव्य प्रतिभा का अधिकांश इसी दिशा की ओर मुड़ गया था, कदाचित् इसलिए भी प्रगतिवादी काव्यान्दोलन काव्य जगत को महान कृतियां देने से वंचित रह गया; यद्यपि नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, अंचल, सुमन, मुक्तिबोध और एक सीमा तक दिनकर आदि इस आन्दोलन से जुड़े रहे।

सन् 1951 के 'प्रतीक' के जून अङ्क में अज्ञेय ने काव्य की उक्त प्रवृत्ति को 'प्रयोगवादी' संज्ञा से अभिहित करने का विरोध किया था[1] और 1953 में आकाशवाणी से प्रसारित फीचर में इसे 'नयी कविता' कहा था। किन्तु इससे पूर्व हिन्दी समीक्षा में काव्य की उक्त प्रवृत्ति को लेकर 'प्रयोगवादी' शब्द का निरन्तर प्रयोग होता रहा था और इस तरह अन्तराल की कविता 'प्रयोवादी' संज्ञा से ही निरन्तर पहचानी जाती रही है।

भाव बोध और रूप को लेकर कविता में यह नवीनता का स्वरूप रूपाभ (1938) से ही लक्षित होने लगा था। गिरिजा कुमार माथुर का सोचना है कि—1939 में प्रकाशित उनकी कविताओं में कविता के इस परिवर्तित-स्वभाव का लक्षित किया जा सकता है। किन्तु यह तो पूरी तरह स्पष्ट है कि सन् 1943 में प्रकाशित 'तार सप्तक' के कवियों में नवीनता के प्रति आग्रह—किसी सीमा तक आत्यन्तिक आग्रह—को निःसंकोच रेखाङ्कित किया जा सकता है। नवीनता के प्रति इस आत्यन्तिक आग्रह का कारण ही—जिसका निश्चित परिणाम नये-नये प्रयोगों की ओर उदग्र होना था—इस काव्य धारा को 'प्रयोगवाद' कहने का आधार बना। वह आत्यन्तिक आग्रह 'नवीन प्रयोग' और 'वैचित्र्य' की इस सीमा तक भी था कि इसी कारण इसे उपहास का विषय भी बनना पड़ा। डॉ० नगेन्द्र ने आरोप लगाया कि यह काव्य-प्रवृत्ति 'रस की चौहद्दी' में नहीं आती और इसमें 'भदेसपन' है। इसी प्रकार के आरोपों के कारण यह काव्य-प्रवृत्ति साहित्य-समीक्षा में पर्याप्त समय तक लांछित होती रही। मुख्यतः इस काव्य-प्रवृत्ति की समस्या थी कि व्यष्टि के अनुभूत को समष्टि तक कैसे पहुंचाया जाय। दूसरे अर्थों में यह समस्या 'सम्प्रेषण' की थी; क्योंकि इन कवियों का मानना था कि भाषा का प्रचलित मुहावरा ओछा पड़ गया है। 'छायावाद' की सुरीली भाषा 'अनुभूत'

---

1 "मैं आग्रह पूर्वक यह कहना चाहता हूं कि नयी कविता की—जिसके लिए मुझे प्रयोगवादी शब्द—अपूर्ण, अव्याप्त और पूर्वाग्रह युक्त जान पड़ता है।"

को सम्प्रेपित करने में अक्षम है। परम्परा विहित उपमान झूठे पड़ गए हैं—

"अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता
या शरद के भोर की नीहार न्हाई कुंई
टटकी कली चम्पे की
वगैरह तो—
नहीं कारण कि मेरा हृदय उथला या कि सूना है

× × × ×

बल्कि केवल यही कि ये उपमान मैले हो गए हैं
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूँच
कभी वासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।"

—अज्ञेय

इसलिए कवियों ने भाषा में आत्यन्तिक प्रयोग किए। उलटे-सीधे टाइप के अक्षर, भाषा की सम्प्रेषण सम्भावनाओं को बढ़ाने के लिए विराम चिह्नों का विशिष्ट प्रयोग, छोटी-बड़ी पंक्तियाँ, रिक्त पंक्तियाँ, एक-एक शब्द की पंक्ति। नये प्रतीक, नये-नये उपमानों की बहुतायत से इन कवियों ने कविता का स्वभाव ही परिवर्तित कर दिया। कविता में गेयता समाप्त होने लगी, वह गद्य के अधिक निकट हो गई, विसंगति और विरोधाभास का अधिकाधिक प्रयोग हुआ। काव्य के परम्परागत विषय बदले—जीवन को वर्जित कथ्य—कुंठा और घुटन को अभिव्यक्ति मिली। छायावाद की भावुकता के स्थान पर बौद्धिकता विशिष्ट हो उठी। कोमलकान्त पदावली के स्थान पर खुरदरी और दैनिन्दिनि भाषा का प्रयोग बढ़ा। अनुभूति के सामान्यीकरण और सरलीकरण से ऊपर उठकर कविता में जटिल और संश्लिष्ट अनुभूतियों को अभिव्यक्त करने का प्रयास हुआ। इस प्रकार छायावादी और प्रगतिवादी कविता से प्रयोगवादी कविता को स्पष्टतः पृथक देखा जा सकता है। जिस प्रकार प्रगतिवादी कविता का चिन्तन-आधार मार्क्स का चिन्तन रहा, इस काव्य-प्रवृत्ति को उसी प्रकार एजरा पाउण्ड, टी. एस. इलियट, ज्याँ पाल सार्त्र आदि ने प्रभावित किया साथ ही मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह कविता फ्राइड, एड्लर और जुंग के चेतन, अवचेतन, अचेतन और सामूहिक अचेतन सिद्धान्तों से भी प्रभावित हुई। काम-कुंठाओं की अभिव्यक्ति प्रयोगवादी

कविताओं का एक प्रकार से केन्द्रीय विषय हो गई। नारी को लेकर इन कवियो की अभिव्यक्ति में रेखाङ्कित किए जाने योग्य परिवर्तन आया। छायावादी कविता मे जो स्त्री-प्रेयसी महीयसी और देवी तुल्य रहस्यमयी थी, प्रयोगवादी कवि के यहाँ अब सीधा काम सम्बोधन का विषय बनी—

"आज मेरी वासनाएँ ही रही उद्दाम
तुम कहां हो नारि····।"

—अज्ञेय

प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति का अनुभव भावनात्मक कम बौद्धिक अधिक हो उठा। द्वितीय विश्व-युद्ध की विभीषिका के प्रक्षिप्त प्रभाव की पृष्ठभूमि पर कवि ने मानव मूल्यों का विराट विघटन देखा। पिछली नैतिकता को छिन्न-भिन्न होते, ईश्वर को मरते और धर्म को पाखण्ड होते देखा। परिणाम स्वरूप कविता मे अनास्थावादी स्वर प्रमुख हो उठा। मान बिखर गए, मर्यादाएँ टूट गई, इसलिए समष्टि बोध के स्थान पर व्यक्ति चेतना प्रमुख हुई और इस व्यक्ति चेतना ने व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसके अहं और उसकी कुंठाओं को काव्य का विषय बना दिया। अस्मिता की खोज उसका प्रमुख ध्येय हो गई, स्वच्छन्दता उसकी जगत सीमा हो गई। अति वैयक्तिकता के इस केन्द्रीय विषय ने कविता को अनेक स्थलों पर जटिल और क्लिष्ट बना दिया। प्रेषणीयता की जिस समस्या को चुनौती मानकर कवि जिन नये प्रयोगो मे जुटा हुआ था। वे प्रयोग ही चुनौती हो गए और दुरुहता स्वयं समस्या बन गई। इससे कविता में दुरूहता बढी और अति वैयक्तिक प्रयोगों ने सार्वजनीनता के लिए अनवकाश उत्पन्न किया। कदाचित अभिव्यक्ति की इस दुरुहता को अज्ञेय ने भी तब लक्षित किया होगा। इसलिए 'तार सप्तक' की भूमिका मे उन्हे यह लिखना पडा—वे सभी (तार सप्तक के कवि) इसके लिए भी तैयार है कि तार सप्तक के पाठक वे ही रह जायं। क्योंकि जो प्रयोग करता है, उसे अन्वेपित विषय का मोह नही होना चाहिए, बौद्धिकता के कारण कविता मे दुरूहता चुकनी चाहिए थी, किन्तु वह बढी। थके व्यक्ति की पराजय और पतनशील प्रवृत्तियाँ कविता के केन्द्र मे चरण कर गई।

प्रयोगवादियों की इन पतनशील प्रवृत्तियों को प्रगतिवादियों ने लक्ष्य किया और उन पर व्यंग्य किया—

"आ घुटन की खोह से बाहर निकल
झील के थिर नील पर कुमकुम झरा

देख कितनी छवि मयी है, दूब वसना
किस कदर है रूपगन्धा यह धरा।"

—अनन्त

प्रयोगवादियों का यथार्थ बोध रूढ़वादिता, अतिकाल्पनिकता, भावुकता, कैशोर्य और शिशुवत जिज्ञासाओं के विरुद्ध सजग था। किन्तु इस सजगता ने कविता में अति बौद्धिकता अनास्था, कुंठा, अहं, पराजय बोध, विसंगति अति वैयक्तिकता और स्वच्छन्दता जैसे बड़े खतरों को खडा कर दिया और मानवता के उत्कर्षपूर्ण ऊर्ज्वसित स्वर मद्धिम पड़ गए। किन्तु सम्पूर्णत: स्थिति ऐसी नही थी। प्रयोगवादियों में अनेक कवि ऐसे भी थे, जो अपने सामाजिक दायित्व से भी जुड़े हुए थे। 'तार सप्तक' के कवियों मे रामविलास शर्मा, नेमिचन्द्र जैन, भारत भूषण अग्रवाल व मुक्तिबोध को इस परिनाश्र्व में देखा जा सकता है। रामविलास ने ग्रामीण जीवन के टटके और ताजे चित्रों से कविता में ताजगी भरी और मानवास्था के स्वर को बनाए रखा। जीवन की यह ताजगी और यह स्वर आगे चलकर केदारनाथसिंह, कीर्ति चौधरी और मदग्नवात्स्यायन जैसे सप्तकियों में देखा गया। और 'सीने मे सघर्ष की ईंट' लेकर 'जमीन मे गड़कर' भी 'जीने की कोशिश' का आह्वान करते हुए मुक्तिबोध जैसे कवियों का मानवास्था का यह स्वर कर मनुज के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूं।" अन्त तक नही टूटा।

यद्यपि 'प्रयोगवाद' नाम से नवीन काव्य धारा हिन्दी-समीक्षा में पूर्णतः प्रतिष्ठित रही, तीखी आलोचनाओं और कड़े विरोध के बावजूद उसकी साहित्यिक स्वीकृति रसवादियों से लेकर प्रगतिवादियों तक ने अंगीकार की, लेकिन सत्य यह है कि यह काव्य धारा स्वयं में सम्पूर्ण नहीं थी, बलिक नयी कविता की पूर्ववर्ती पीठिका थी, कविता का परवर्ती स्वरूप जिसे अज्ञेय ने आकाशवाणी से प्रसारित एक फीचर और तदन्तर 1953 में प्रकाशित 'नये पत्ते' मे नयी कविता कहा था, इसी काव्यधारा का परवर्ती स्वरूप था। प्रयोगवाद की वे समस्त सृजनशील प्रवृत्तियाँ जो काव्य को स्तर देने और युगीन परिवेश की सक्षमता के साथ अभिव्यक्ति करने मे समर्थ थी, नयी कविता मे पर्यवसित हो गई। अतः हम कहें कि 'प्रयोगवाद' नयी कविता का प्रयोगकाल था तो इस कथन से मतभेदों के बावजूद एक सीमा तक सहमत हुआ जा सकता है। इस तरह नयी कविता को अपने 'प्रयोनकाल' में आलोचना-प्रत्यालोचना का उमी तरह सामना करना पड़ा था, जिस तरह छायावादी कविता को अपने आरम्भिक काल में आचार्य शुक्ल, आदि समीक्षकों का।

अपनी पूर्ववर्ती कविता अर्थात् छायावादी कविता से नयी कविता ने स्वयं को सबसे पहले दृष्टि और रूप के स्तर पर पृथक किया। वस्तु के प्रति छायावाद की जो पहल भावुकता पूर्ण थी वह अब बौद्धिक पहल में बदल गई। छायावादी कविता जहाँ स्वयं को छन्दों और लय में सजाकर प्रस्तुत करती थीं नयी कविता में वहाँ गद्य की रूक्षता को प्रश्रय मिला। वस्तुतः यह परिवर्तन परिवेश जन्म विवशता, अनुभूतियों की जटिलता और कथ्य की आन्तरिक लय का परिणाम था, इस आन्तरिक लय को कुछ समीक्षक अर्थ की लय संज्ञा से भी अभिहित कर रहे थे। कविता अब गद्य के नितान्त निकट थी, पुरानी लय टूट चुकी थी और कविता के केन्द्रीय विषय बदल चुके थे। अनुभूति की बनावट की परीक्षा बुद्धि के दर्पण में हो रही थी। कविता से सजावट का भाव तिरोहित हो गया था और सब कहीं वैचारिकता रेखाङ्कित थी। जीवन की उलझी हुई यथार्थ-परक अनुभूतियों की प्रामाणिकता को अभिव्यक्ति के स्तर पर बल मिल रहा था और व्यक्ति के सत्य को परिवेश में अन्वेषित किया जा रहा था। छायावाद में विषय की सांगोपांगिता अनुभूति का केन्द्र बताती थी, नयी कविता में क्षण की अनुभूति को महत्व मिल रहा था, क्षण—न जिसका अतीत है और न भविष्य, जो शुद्ध वर्तमान है, अपनी परम्परा और इतिहास से विलग। क्षण के 'फल सफे' का बखान अज्ञेय ने अपने उपन्यास 'अपने-अपने अजनबी' में भी किया है। व्यष्टि-सत्य के अन्वेषक कवि क्षण को ही शाश्वत मान रहे थे और इस प्रकार वर्तमान से जुड़ कर अनुभूति की प्रामाणिकता को चरितार्थ कर रहे थे। क्षण की महत्ता इन कवियों को अस्तित्ववादियों के यहाँ मिली थी और अनुभूति की अखण्डता और सम्पूर्णता को ये कवि 'क्षण' में जी रहे थे—

"आज के विविक्त क्षण को
पूरा हम जीलें, पीलें, आत्मसात करलें
इसकी विविक्त अद्वितीयता
आपको किनपि को क ख ग को
अपनी सी पहचनवा सके
रसमय कर दिखा सकें—
शाश्वत हमारे लिए यही है।
अजर-अमर है।
वेदितव्य
अक्षर।
एक क्षण। क्षण में प्रवहमान
व्याप्त सम्पूर्णता।

—अज्ञेय 'इन्द्रधनु रौंदे हुए' से

जिस दर्शन से इन कवियों ने क्षण का महत्व जाना था, उसी से इन्हें मृत्युबोध की प्रेरणा मिली थी। अन्तिम सत्य मृत्यु था और मृत्यु-भय-जीवन को खोखला और मानवीय सम्बन्धों को व्यर्थ बना रहा था—

"खत्म हम दर्दी
खत्म
साथियों का साथ
रात मूँदने आएगी सबको।"

मृत्यु के इस गहरे बोध ने इन कवियों में दुख की गहरी रेखाएँ खचित की थीं, जिससे मूल्यों का विघटन और पराजय का बोध प्रमुख हो उठा था। खण्डित व्यक्तित्व और खण्डित आस्था कवियों को दुख का आश्रय लेने के लिए विवश कर रही थी। दुख के माध्यम से ये कवि व्यक्तित्व की विराटता के स्वप्न जोह रहे थे -

दुख सबको माँजता है
और/चाहे
स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने किन्तु
जिनको माँजता है।
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें

—अज्ञेय

अस्तित्ववादियों के यहां स्वतन्त्रता जो व्यक्ति की सबसे महान उपलब्धि है, उस स्वतन्त्रता को हमारे ये नए कवि दुख में से ही अन्वेपित कर रहे थे। इस तरह नये कवियों के यहां व्यक्ति की स्वतन्त्रता जीवन मूल्य के रूप मे उभर रही थी और उसकी आत्यन्तिक परिणति यह हो रही थी कि श्रीकान्त वर्मा अपने ड्राइंग रूम से सड़क तक पेशाव करते जाने की स्वतन्त्रता चाह रहे थे। स्वतन्त्रता का यह आत्यन्तिक रूप दूसरे की परतन्त्रता भी हो सकता है. यह तथ्य इन कवियों की समझ में नहीं आ रहा था। 'वरण की स्वतन्त्रता' में ये कवि 'हत्या' और 'आत्महत्या' के वीच झूल रहे थे—

"न मैं आत्म हत्या
कर सकता हूँ
न औरों का
खून।"

—श्रीकान्त वर्मा

रामधारीसिंह दिनकर 'कोयला और कवित्त' में जो कुछ लिख रहे थे, उससे नये कवि को कोई 'सीख' नहीं मिल रही थी, मिलती भी कैसे ? नयी कविता के सूत्रधार जो नहीं थे दिनकर —

"मर कर भी जीवित रहने का
लोभ न करना चाहिए ।
मरे अगर कवि तो
उसको पूरा ही मरना चाहिए ।"

लाचारी यह है कि इन कवियों के पास करने को कुछ नहीं है, ये कवि न जिन्दा रह पाते हैं और न मर पाते हैं—

इन्हें यन्त्रणा मरने की भी है मरने के बाद जिन्दा रहने की भी—

"मैं मर चला हूँ
मर जाना ठीक है
शायद मर जाता हूँ
क्या करूँ ?
मर नहीं पाता ।"

—कैलाश बाजपेयी

निर्णय 'मरने' का लेने के बाद भी 'संशय' से नहीं उबर पाते, यों भारतीय दर्शन में संशय आत्मा को नष्ट करता है', लेकिन इन कवियों की कविता में संशय मृत्यु को नष्ट करता है, कैसी है संशय की यह बदली हुई आधुनिक भूमिका ? जिन्दा रहना नहीं चाहते, मर पाते नहीं हैं, अर्थात् जीवन मूल्य है दुख चाहे जिन्दा रहो, चाहे मर जाओ; क्योंकि दुख सबको मांजता जो है, और दुख, सबको 'मुक्त' रखने की सीख जो देता है, इसलिए सबको मुक्त रखने की सीख देने के लिए और स्वयं को माँजने के लिए दुख यदि कहीं न मिले तो उसको पाने के लिए ये कवि 'आत्महत्या' तक कर सकते हैं ।

"मैं भी तुम जैसा इन्सान था
आज मैं प्रेत हूँ
क्योंकि मैं अपनी मौत से नहीं मरा हूँ
मैंने की है आत्महत्या जानबूझकर"

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

सृजन दुख से उपजता है और दुख—

"वह आत्महत्या से उपजता है
और आत्महत्या की ओर बढ़ता है ।"

—विजयदेव नारायण साही

इस 'आत्महत्या' के बावजूद कोई उसकी आत्महत्या का साक्षी नहीं हुआ कवि को यह शिकायत भी है. यानी जिसके लिए आत्महत्या की वही देखने नहीं आया, कैसी तो विडम्बना है कवि की—

"किसी ने भी
मेरी अन्तिम आत्महत्या नहीं देखी।"

—गिरजाकुमार माथुर

उर्दू कवि को यह संतोष तो था कि मरने के बाद उसका जनाजा देखने उसका प्रिय आया तो लेकिन नए कवि को वह तसल्ली भी कहाँ मिली ? इसे कवि की मानसिक रूग्णता कहें, कैशोर्य कहें या कि अस्तित्ववादी चिन्तन का अन्धानुकरण ? या फिर अपने मसीहा द्वारा दिया गया दुख का जीवन दर्शन ? क्योंकि उसकी सीख थी कि दुख से उवरने की आवश्यकता नहीं है

"अनुभूति से मत डर
मगर पाखण्ड उसके दर्द का मत कर"

—अज्ञेय

और इन कवियों ने दुख के डर को डराने के लिए आत्महत्या का रास्ता पकड़ा, बुद्धिवादी कवियों की इस डर पूर्ण अवौद्धिक भूमिका पर क्या तो कहा जाय ? नयी कविता के सूत्रधार से यद्यपि अभी भी नए कवियों को स्वीकृत मिल रही थी—

"आपने दस वर्ष हमें और दिए.......
हमें डर नहीं लगता कि उखड़ न जावें कहीं।
हमारे पाए सत्य के मसीहा तो
हमारे मरते ही वन्धु आप वन जाएंगे।"

—अज्ञेय

लेकिन नए कवियों का दुख अब 'सवको मुक्ति' देने की अपेक्षा उस सीख के जनक से स्वयं ही मुक्त होने के लिए दिशाएँ चुन रहा था और विदेशी छाप विम्व, प्रतीकों, रुपको के विरोध के साथ-साथ वह 'क्षणवाद' का भी विरोध कर रहा था। 'कृति' के सम्पादकीय में यह विरोध उभर कर आया "क्षण ही इति नही है। हमें अनागत पर जव तक विश्वास नही होगा, व्यक्तित्व की क्षमता का का वोध वरावर वना रहेगा.... पाश्चात्य साहित्य हमें आकंठ आधुनिक लगता है, किन्तु भारतीय साहित्य में हमे रुढ़िवादिता, धार्मिकता, जातीयता लगती है और हम अपनी ही कविताओं में अजीव विदेशी उपमाओं रूपकों, प्रतीको तथा विम्व चित्रों को जव उतारते है तव वे किसी भी प्रकार हमारे वैशिष्टयपूर्ण व्यक्तित्व का संवहन नही करते, जिसके लिए इतनी ज्ञान चेष्टा हमने की।"

छायावाद और नई कविता के अन्तराल को भरने वाले शलाका-पुरुष को यह अवमानना असह्य हो गई तब उसने आलोचना में नहीं कविता में नये कवियों की आलोचना की—

"आ, तू आ,
हाँ, आ,
मेरे पैरों की छाप-छाप पर रखता पैर
मिटाता उसे,
मुझे मुँह भर गाली देता—
आ, तू आ !....
जयी युग-नेता, पथ-प्रवर्त्तक
आ, तू आ,
ओ गतानुगामी ।"

—अज्ञेय

लेकिन 'कृति' के सम्पादक द्वय में से ही एक श्रीकान्त वर्मा ने अन्ततः उक्त कविता के 'फलसफे' को गाली का पर्याय बना दिया—

"मगर खबरदार मुझे कवि मत कहो ।
मैं बकता नहीं हूँ कविताएँ
ईजाद करता हूँ
गाली
फिर उसे बुद बुदाता हूँ ।"

नयी कविता को भोंड़ा, भदेस, विसंगति और गाली गलौज में बदल कर नए पंथ के दावेदारों पर मुक्तिबोध का यह व्यंग्य पर्याप्त सटीक है—

"दुनिया न कचरे का ढेर कि जिस पर
दानो को चुगते चढ़ा हुआ कोई भी कुक्कुट
कोई भी मुरगा
यदि बाँग दे उठे जोरदार
बन जाये मसीहा ।"

'दुनियाँ' के माध्यम से कविता की कचरा भरी दुनियाँ पर भी यह व्यंग्य था ।

कवि में पलते 'दुखवाद', अकेला पन निष्क्रियता संत्रास और अजनबीपन को जीवन मानकर जीने की याद कोई सार्थक परिणति नहीं है, तो ऐसा दुख प्रदर्शन, निष्क्रियता और अकलापन 'कविता में कैसे' सार्थक हो सकता है, विवेक की इस पुकार को मुक्तिबोध ने अपनी कविता में समझा था। जो एक तरह से नयी कविता के संसार की पतनशील प्रवृत्तियों पर व्यंग्य भी है—

"दुखों के दागों को तमगों सा पहना
अपने ही खयालों में दिन रात रहना
असंग बुद्धि व अकेले में सहना
जिन्दगी निष्क्रिय बन गई तलघर
अब तक क्या किया
जीवन क्या जिया ! !
बताओ तो किस-किस के लिए तुम दौड़ गए
करुणा के दृश्यों से हाय मुँह मोड़ गए,
बन गए पत्थर
बहुत-बहुत ज्यादा लिया
दिया बहुत-बहुत कम
मर गया देश अरे जीवित रह गए तुम।"

मानवतावादी इस दृष्टिकोण को नयी कविता में विक्षिप्त मनः स्थितियों, काम कुंठाओं, अजनबी और अकेलेपन अतिबौद्धिकता और अतिवैयक्तिकता ने दूर तक झुठलाने की चेष्टा की है। मुक्ति बोध कविता के केन्द्र में 'देश' को रख रहे हैं और श्रीकान्त वर्मा 'देश को खोकर ही' कविता प्राप्त कर रहे हैं। मुक्तिबोध भले ही दुनिया को 'कचरे का ढेर' न मानते हों, लेकिन रघुवीर सहाय के लिए वह 'कचरे के ढेर' से भी आगे की चीज है—

"दुनियाँ एक पपड़ियाई हुई सी चीज हो गई है
दुनियाँ एक चिपचिपाई हुई सी चीज हो गई है....
दुनियाँ एक फफूदियाई हुई सी चीज हो गई है....
दुनियाँ एक बजबजाई हुई सी चीज हो गई है।"

इतनी घृणित चीज देखकर भी यदि कवि का दम न घुटा और उसे 'उबकाई' नहीं आई, और वह पागल न हुआ तो नया कवि कैसे होगा—

"नींद नहीं, क्षुधा नहीं, पागलपन
केवल वमन यह दुराग्रह
उपदंश, महादंश की नरक कुंड वीजात्माए ।"

—राजकमल चौधरी

पागल होने के भी नए ढंग हैं, जिन्हें नए कवि कैलाश वाजपेयी जानते हैं

"इससे पहले कि पागल हो जाऊँ
चढ़ बैठूँ गरदन पर
हाथ में जहर बुझा कोड़ा लिए हुए
सड़ासड़
मारता चला जाऊँ....
या दबा दूँ जलती रेत में
ये अपनी आँखें नाक, कान जिह्वा
कूद पड़ूँ ताजे चूने के
हौज में
या कि फिर क्या करूँ ?"

'कुछ करने' के नाम पर कैलाश वाजपेयी के पास या तो 'मरना' है, या फिर 'पागल' हो जाना। लेकिन जब 'दिमाग में ततैयों का छत्ता' हो और 'ओठों पर कनखजूरा चिपका' हो तब आदमी यदि मर न सके तो कम से कम पागल तो हो जाय। आखिर अपना 'कटा हुआ सिर' और अपने ही 'कबन्ध का विक्षिप्त नृत्य' देखकर कवि विक्षिप्त होने से कैसे बचा रह सकता है—

"मेरा कटा हुआ सिर
पाताल राज सा
अपने ही कबन्ध का विक्षिप्त नृत्य देखता है"

—गिरिजा कुमार माथुर

और 'विक्षिप्त' होने के पश्चात् अपने ही अंग अपने विरुद्ध वर्ताव करने लगते हैं—

मैंने सिर हिलाया
खाली विस्कुट डिब्बे सा वह सो गया
गरदन हिलाई
नहीं हिली, अकड़ी थी"

—लक्ष्मीकान्त वर्मा

ओढ़ी हुई मानसिकता ने नई कविता में जिस संसार की रचना की है उसमें विक्षिप्तता है, मृत्यु है, दुःस्वप्न हैं, दुर्गन्ध है, घोंघें हैं, केंचुए हैं, केकड़े हैं, कनखजूरे हैं, टिड्डियाँ हैं मकड़े हैं, गुबरीले हैं। ऐसी मानसिकता में रहते हुए कवि का मूल्य दुग्ध न होगा तो फिर और क्या होगा ? इसलिए राजकमल चौधरी को 'मुक्ति प्रसंग' में यह आत्मस्वीकृति सच्ची है कि अनुभव तो बहुत किए लेकिन कोई प्रतिमा न बन सकी। अनास्था, अवसाद, अरुचि अकर्मन्यता, और आक्रामकता के इस काव्य बोध में "कोशिश करो, कोशिश करो, कोशिश करो। जमीन में गड़ कर भी। जिन्दा रहने की।" जैसा आस्था और संघर्ष का स्वर जो मुक्तिबोध की कविता में हताशा के बावजूद मुखर होता रहता है, क्षीण हो जाता है और कविता का मानवीय बल चुकने लगता है।

आयोजित मानसिक तनावों, जटिल अनुभूतियों, वहशी उत्तेजनाओं और वीभत्स यथार्थ चित्रण ने नयी कविता के एक बड़े अंश पर प्रश्न-चिह्न लगा दिया है। जीवन सत्यों और मूल्यों के अन्वेषण की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल और दुर्गम है, आयोजित मानसिकता के माध्यम से वहाँ नहीं पहुंचा जा सकता, वह कहीं गहरे धँसी और छिपी हुई है, जिसका उल्लेख मुक्तिबोध 'ओ काव्यात्मक फणिधर' कविता में करते हैं—

"चुपचाप धँसाए गए, छिपाए गए रत्न मन के जन के
जो मूल्य सत्य हैं, इस जग के परिवर्तन के।"

जग के परिवर्तन के जो मूल्य, 'सत्य हैं', वे ही मूल्य और सत्य परिवर्तित कविता के भी हैं, परिवर्तित कविता यानी नयी कविता। इसके लिए कनखजूरों, केंचुओं, मकड़ों और छिपकलियों के संसार को त्यागकर अनुभूति के गहरे अँधेरे में उतरना होगा 'चुपचाप' यानी बिना किसी ओढ़े हुए सत्य का चित्रण करते हुए, बिना किसी बाहरी सहायता के—

"नीचे उतरो, खुरदरा अँधेरा सभी ओर
यह है अँधियारा कुँआ
चुपचाप अँधेरे में उतरो"

—मुक्तिबोध

जीवन-यथार्थ तक पहुंचने के लिए ढोंगी रास्ते काम नहीं देंगे, न आयोजित मुद्राएँ और न चौंकाने वाली अभिव्यक्ति। कहना न होगा कि श्रीकान्त वर्मा, रघुवीर सहाय, राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी आदि अनेक कवियों की पर्याप्त कविताएँ इसी कोटि की हैं। यह मानसिकता इलियट और एजरा पाउण्ड की उसी रुग्ण मानसिकता से जुड़ती है, जिसको 'दूसरा सप्तक' में अपनी कविताओं के

साथ दिए वक्तव्य में शमशेर बहादुरसिंह गले नहीं उतार पाते "इलियट और पाउण्ड' और उनके अनुयायीवाद आ जाते हैं। (आधुनिक काव्य सोच के संदर्भ में) इन्होंने शिल्प में बड़ी मेहनत की, बड़ा श्रम किया। अद्भुत इनकी पकड़ है, छन्द गति, लय, ताल की। अक्षर का मर्म यह जानते हैं, मगर फिर भी जैसे कुछ नहीं जानते। ज्ञान विज्ञान की नाना कलाओं के सागर में गोते लगाए हैं पर जैसे खूबसूरत, बहुत खूबसूरत सीपों के अलावा कोई मोती इन्हें न मिला हो। यहाँ मोती का जिक्र है, यों सीपों को भी हम प्यार करते हैं....... क्योंकि इन्हीं में से मोती निकल आता है। मुझे बहुत आकृष्ट करते हैं ये कवि इन्हीं की तरह पर कुछ काफी कम दर्जे पर श्री अज्ञेय, श्री मोम नून र्णशद (मीरानी नहीं) गुरु का फैज, डायलन टॉयमस, जुकोफस्की, मैरियन मूर, पैंचन वगैरह। मगर फिर लगता है कि जैसे ये कागज के फूल न होकर भी सच्चे फूल न हों। इनमें शायद वह सब कुछ है, जिसके विरुद्ध मेरा स्वस्थ मन विद्रोह करता है—शायद इसलिए कि इनमें जीवन के रोग-शोक, आत्मा की हाय, दैन्य, पराजय, भ्रम, कुहा, क्रूरता आदि उघार कर रख दिए हों, 'काश' कि अक्सर यह काम सचेत रूप से कलाकार करता।" कहना न होगा कि उक्त वक्तव्य नए कवियों की एक बड़ी संख्या पर भी ज्यों का त्यों चरितार्थ है। जीवनानुभूतियाँ वही हैं, लेकिन उनका स्वस्थ विवेक पूर्ण चयन कहाँ है? काम कुंठाओं की परिणति किस उदात्तीकरण में है? मृत्यु जीवन की ऊष्मा को कहां रेखांकित कर रही है? विक्षिप्तता किस विवेकशीलता को जन्म दे रही है? आत्महत्या जीवन का कौनसा रचनात्मक सोपान रच रही है? कहने का अभिप्राय यह है कि नए कवियों ने चूंकि सचेत होकर उक्त केन्द्रीय विषयों की अभिव्यक्ति नहीं की है, इसलिए फूल होने पर भी वे फूल तो हैं ही नहीं कागज का फूल भी नहीं हैं।

हिन्दी के इन नए कवियों ने भी शिल्प पर मेहनत की है। कविता को बिम्बों से सजाया है। प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति के द्वारा विस्तृत किए हैं, तनाव के माध्यम से रचना प्रक्रिया को सघन किया है अर्थ यह कि अभिव्यक्ति के पैनेपन के लिए शिल्प के सारे औजार पैनाए हैं, किन्तु जिस वस्तु को कहने के लिए यह सम्पूर्ण आडम्बर है, उस वस्तु का ही विवेक सम्मत चयन जो नहीं है। जब विवेक चुकता है तो देखने का कोण भी दोषपूर्ण हो उठता है, इसलिए कविता के अन्तर्मुखी सन्तापी और अर्द्ध विक्षिप्त काव्य नायक को प्रेयसी हर सुबह पहले से अधिक 'अजनबी' लगने लगती है—

"प्रत्येक सुबह तुम लगती हो
कुछ और अधिक अजनबी मुझे।"

—श्रीकान्तवर्मा

यह दृष्टि का ही दोष है इन कवियों की दृष्टि लौट-लौट कर जिन उपमानों या जिन विषयों पर केन्द्रित होती है, वह वेश्या है, स्त्री है और आत्महन्ता अनास्था है। लक्ष्मीकान्त वर्मा की कुल वधू 'कई बार विचारों की वेश्या हो गई है।' अजितकुमार चौधरी की सड़क के साथ गहरी सहानुभूति है; क्योंकि वह 'सबको सहन करते हुए एक वेश्या की तरह अपने में लीन' है। श्रीकान्तवर्मा को 'यात्री को उतार कर नावें वेश्याओं की तरह थकी' दिखाई देती है 'कवियों के झूंठ में लिपटी वेश्या-माँ, से उसकी सहानुभूति गहरी है। द्वन्द्व और तनाव जीवन मूल्यों और आधुनिक जीवन की विडम्बना को लेकर नहीं है, द्वन्द्व है "क्या मैं पड़ा रहूँ अपनी स्त्री की जाँघ की दराज में।" उनकी दृष्टि में स्त्रियां 'नपुंसकों से प्रेम' करती हैं और 'प्रेम अकेले होने का ही एक और ढंग है।" लड़की उनके लिए 'एक बहुत अच्छा सपना' है। यह मनस्तापी विकृत दृष्टि, यह बीभत्स के प्रति गहरा राग, लड़कियों को लेकर यह कैशोर्य भाव, कवि को किसी वयस्क चिन्तन से नहीं जोड़ता। जीवन को लेकर और कविता को लेकर इन कवियों की जीवन दृष्टि में ही कोई मौलिक दोष है। केवल वेश्याओं के बहुतायत से प्रयुक्त नए उपमान ही कविता को नया करने के लिए पर्याप्त नहीं है, उसके लिए नवीन और मौलिक जीवन दृष्टि भी चाहिए। इसलिए डॉ. राम विलास शर्मा के इस दृष्टिकोण से चाहे पूर्णतः सहमत न भी हुआ जा सके लेकिन है वह विचार करने योग्य "इन्होंने अपने भीतर नया क्या देखा है, जो इनके पूर्वजों ने न देखा था ? उन देखी हुई पुरानी बातों को ही अपनी नवीन मौलिक अनुभूति के बल पर कलात्मक सवेदनशीलता से चित्रित करते। जिनके पास दृष्टि है वह बाहर भी देखती है भीतर भी। संसार में कोई ऐसा महाकवि अभी तक नहीं हुआ, जिसने भीतर देखा हो, बाहर को छोड़ दिया हो या बाहर देखा हो भीतर को छाड़ दिया हो। यथार्थ की इकाई बहुरूपी अनेक स्तरीय, स्थूल से स्थूलतर और सूक्ष्म से सूक्ष्मतर है, पर है वह इकाई आन्तरिक रूप से सम्बद्ध और अविभाज्य, इसलिए जो दर्शन आत्मगत चेतना को निरपेक्ष मानता है, वह साहित्य-कार के मूल रचनात्मक दृष्टिकोण का ही नाश करता है, वैसे ही जैसे यान्त्रिक भौतिकवाद मानव चेतना की वस्तु जगत का प्रतिबिम्ब मात्र मानकर साहित्यकार की रचनात्मक क्षमता को ही अस्वीकार करता है। योरुप की रोमांटिक कविता में यह कमजोरी थी कि वह यथार्थ मे मुँह मोड़कर कवि की व्यक्तिगत आशा निराशा, सुख:दुख, स्वप्नशीलता, पलायन प्रियता से उलझ जाती थी"। नए कवियों का एक बड़ा वर्ग इसी स्वच्छन्दतावादी दुर्बलता से अभी भी ग्रसित है। 'लड़की एक अच्छा सपना' होने के साथ जब वह सपना उसे और अकेला कर जाता है, तो वह दुर्बलता के साथ विकृति की ओर मुड़ जाता है। नयी कविता में अनुभूति की इस कुरुचि ने और पराजित चिन्तन की इस लाचारी ने इन कवियों को बेचारा ही बनाया है और कविता को जुगुप्सात्मक। सूक्तियों में बोलने वाले समीक्षकों ने

छायावाद को सूक्ष्म का स्थूल के प्रति विद्रोह कहा था और अब नयी कविता को अति-सूक्ष्म का सूक्ष्म को प्रति विद्रोह रहे है। छायावाद भीतर से वाहर की अभिव्यक्ति था और नयी कविता वाहर से भीतर की। छायावाद में भाव को 'रूप' में परिणत किया जाता था। नयी कविता में रूप को भाव में। वाह्य तथ्य है और अभ्यान्तर सत्य। इसलिए अज्ञेय का सोचना है कि जो तथ्य है, उसे सत्य से आलोकित करना नयी कविता करना है।

यह सत्य है कि पूर्ववर्ती कविता के मूल विषय हैं वे आज नयी कविता के भी हैं "हमारे मूल राग-विराग नहीं वदले-प्रेम अब भी प्रेम है और घृणा अब भी घृणा यह साधारणतः स्वीकार किया जा सकता है। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि राग वही रहने पर भी रागात्मक सम्बन्धों की प्रणालियाँ वदल गई हैं और कवि का क्षेत्र रागात्मक सम्वन्धों का क्षेत्र होने के कारण इस परिवर्तन का कवि-कर्म पर वहुत गहरा असर पड़ा है।''' जैसे-जैसे वास्तविकता वदलती हैं—वैसे-वैसे हमारे उससे रागात्मक सम्वन्ध जोड़ने की प्रणालियाँ भी वदलती हैं—और अगर नहीं वदलती तो उस वाह्य वास्तविकता से हमारा सम्वन्ध टूट जाता है।" वस्तुतः यथार्थ को देखने की और उससे अपने सम्वन्धों को विश्लेपित करने की जो दृष्टि है, वही मुख्य है, उसी का वदलना दृष्टि का नया और मौलिक होना है। कहना न होगा कि कवियों ने सचेत होकर इन सम्वन्धो को जहाँ रचनात्मक स्तर पर हृदयंगम किया है, वहीं वे मौलिक हो उठे हैं।

यथार्थ को देखने और उसमे व्यक्ति और परिवेश को संघर्ष को भी अज्ञेय व्यक्ति और परिवेश के वीच सामन्जस्य खोजने का प्रयत्न मानते हैं, और यह साम-जस्य की खोज ही नयी कविता की रचनात्मक खोज है। आचार्य शुक्ल भी विरोधों में सामन्जस्य को श्रेष्ठ काव्य का लक्षण मानते थे; किन्तु मुक्तिवोध की दृष्टि इससे भिन्न है "काव्य या तो वाह्य जीवन जगत के साथ सामन्जस्य के साथ उसके अनुकूल उपस्थित होता अथवा उसके साथ द्वन्द्व रूप में प्रस्तुत होता है अथवा काव्य प्रवृति एक स्तर या क्षेत्र में सामन्जस्य और दूसरे स्तर या क्षेत्र मे द्वन्द्व को लेकर प्रस्तुत होती है। सक्षेप में आभ्यन्तर या वाह्यीकरण, विश्व व्यापी सांमजस्य या द्वन्द्व अथवा दोनों के भिन्न रूप में उपस्थित होता है। आज की कविता में उक्त सामन्जस्य से अधिक द्वन्द्व ही है, इसलिए उसके भीतर तनाव या घिराव का वाता-वरण है।' इसका अभिप्राय यह हुआ कि आज की कविता में आचार्य शुक्ल का काम्य 'सामन्जस्य' और अज्ञेय का इच्छित संघर्ष गौण हो गया है और वहां द्वन्द्व और तनाव प्रमुख हो गया है यह द्वन्द्व और तनाव समष्टिमूलक दृष्टि के कारण भी है "हर मनुज के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ" (मुक्तवोध) और उस दृष्टि के खण्डित हो जाने और आत्मकेन्द्रित हो जाने के कारण भी है—

"मैं गौर से सुन सकता हूं
औरों के रोने को
मगर दूसरों के दुख को
अपना मानने की बहुत
कोशिश की नहीं हुआ।"

—श्रीकान्त वर्मा

यह आत्मकेन्द्रित होने से उपजा तनाव व्यक्ति को 'पागलपन' तक भी ले जा रहा है, जहाँ वह झूठ और सच के द्वन्द्व में फँसकर अपनी स्थिति को अपने लिए ही असह्य बना लेता है—

ये सब बार-बार
उसी पहुँचे हुए नतीजे पर पहुँच कर
रह जायेंगे कि झूठ एक कला है और
हर आदमी कलाकार है, जो यथार्थ को नहीं
अपने स्वार्थ को
कोई न कोई अर्थ देने की कोशिश में पागल है

—कुँवरनारायण

परिवेशजन्य द्वन्द्व भंगिमा को जहाँ वक्र बनाता है, वहीं मानसिक स्तर पर क्षोभ और तनाव की सृष्टि करता है—

"हर सकट भारत में एक गाय
होता है।
ठीक समय
ठीक बहस कर नहीं सकती
राजनीति
बाद में जहाँ से भी शुरू करो
बीच सड़क पर गोबर कर देता है विचार
हाय हाय करते हुए हाँ हाँ करते हुए हें हें करते हुए
समुदाय।

—रघुवीरसहाय

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् देशवासियों के जो संजोए हुए स्वप्न टूटे और जनता जिस मोह भंग के दौर से गुजरी, नयी कविता में उसकी भी गहरी अनुगूँज है। कवि उसके लिए स्वयं को ही दोषी मानता है—

"तुम खुद हाथ में रेत लेकर
उसमे चमकते चांदी के जर्रे देखते रहे
तुम्हे किसी ने नही भरमाया।"

—विजयदेव नारायण साही

लेकिन एक दूसरे कवि की दृष्टि मे इसका कारण राजनीतिज्ञ है और है मौजूदा राजनीति

"एक बार जानबूझ कर चीखना होगा
जिन्दा रहने के लिए
दर्शक दीर्घा मे से
रगीन फिल्म की घटिया कहानी की
सस्ती शायरी के शेर
ससद सदस्यों से सुन
चुकने के वाद।"

—रघुवीरसहाय

देश की राजनीति और राजनीतिक व्यवस्था पर लगभग सभी कवियो ने लिखा है। संसद की भूमिका पर धूमिल लिखते है—

"अपने यहाँ संसद
तेली की वह घाणी है
जिसमे आधा तेल है
और आधा पानी है
और यदि यह सच नही है
तो वहाँ एक ईमानदार आदमी को
अपनी ईमानदारी का मलाल क्यों ?
जिसने सत्य कह दिया
उसका बुरा हाल क्यों।"

राजनीति पर लिखना नयी कविता की एक चारित्रिक विशेषता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि इनमें से लगभग सभी कवियों ने काम कुंठाओं और यौन वर्जनाओं पर लिखा है और वह नयी कविता का एक पहचाना हुआ घटक बन गया है।

नयी कविता में समाज की दुर्दशा और व्यक्ति की दयनीय स्थिति का भी कलात्मक वर्णन है। धूमिल प्रतीकात्मक ढंग से राष्ट्र में व्याप्त 'भूख' की समस्या को चित्रित करते हैं—

"अपने दशक की समूची युवा पीढ़ी
देखती रह जाती है
जड़ों को लेकर
जमीन की अँधेरी गहराइयों में
भागती हुई भूख
पत्तियाँ चबाती है।"

'चक्र व्यूह' में कुँवर नारायण 'भूख' को विराट अर्थ देते हैं और समूची चेतना और इन्द्रिय बोध से परे भी उसकी उपस्थिति स्वीकार करते हैं। व्यक्ति की विडम्बना उसकी यह भूख ही है—अनंत भूख—

"हाय पर मेरे कलपते प्राण
तुमको मिला कैसी चेतना का विषम जीवन मान
जिसकी इन्द्रियों से परे
जागृत है अनेकों भूख।"

नयी कविता नितान्त समाज विरोधी, कुंठाग्रस्त, पतनशील प्रवृत्तियों की ही 'उपलब्धि' नहीं है उसका सामाजिक पक्ष भी है और यह सामाजिक पक्ष पर्याप्त पुष्ट भी है। ये कवि इस वस्तुस्थिति से परिचित हैं कि केवल आत्म केन्द्रित होकर ही जीवन नहीं जिया जा सकता; इसलिए कि वह नितान्त स्वतन्त्र नहीं है, सामाजिक जीवन का ही एक अंग है—

"अहं अन्तर्गुहावासी, स्वरति
क्या मैं चीन्हता कोई न दूजो राह ?
जानता क्या नहीं, निज में बद्ध होकर है नहीं निर्वाह"

—अज्ञेय

इसीलिए कवि के यहाँ व्यक्ति का महत्व होते हुए भी उसकी सार्थकता सामाजिक भूमिका के निर्वाह में ही है। वह अकेला प्रकाश-स्तम्भ है, लेकिन उसके प्रकाश की सार्थकता समष्टि मूलक होकर ही अधिक है—

"यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भर मदमाता पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।"

—अज्ञेय

अहंवादी चिन्तन से परे नयी कविता का लोक मंगल पक्ष भी कितना पुष्ट है, यह निम्नलिखित उद्धरण से पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है—

'छुओ यदि ऊँचाइयाँ
तो इस तरह
आलोक पहुँचे
तहाँ तक नीचाइयों के
सभी पाएँ ज्योति।"

गजानन माधव मुक्तिबोध इसी लोक मंगल और मानव मुक्ति की नयी कविता से अपेक्षा कर रहे थ—"मानव मुक्ति, जिसके अन्तर्गत जीवन के सभी पक्ष आ जाते हैं चाहे वह शृंगार हो या राजनीति। हर पक्ष में मुक्ति का संघर्ष है। कोई भी पक्ष इससे खाली नहीं है। उसमें रामचन्द्र शुक्ल की शब्दावली में सत् और असत् का मंगल और अमंगल का सघर्ष छिड़ा हुआ है—चाहे वह सौन्दर्य का ही क्षेत्र क्यों न हो। इन संघर्ष के द्वन्दों को पहचानना उनके मनोवैज्ञानिक तत्वों का चित्रण करना क्या नयी कविता का कर्त्तव्य नहीं है।"

चूँकि यह लोक मंगल के लिए कविता का संघर्ष शृंगार से लेकर राजनीति तक विस्तीर्ण है, जिसका अर्थ होता है कि व्यक्ति की जीवनजन्य (ओढ़ी हुई नहीं) कुंठा और घुटन भी कविता के वृत्त में आती है। लेकिन कविता में पतनशील पक्ष का आधिक्य होने के कारण विशेष रूप से प्रगतिवादी आलोचकों ने कविता की तीखी आलोचनाएँ की। डॉ० राम विलास शर्मा का कहना है कि प्रयोगवादियों ने चूँकि प्रगतिवाद की आलोचना की पहले पहल की, इसलिए प्रगतिवादी आलोचकों को नयी कविता की आलोचना के लिए विवश होना पड़ा। प्रगतिवादी समीक्षकों का सीधा सा मन्तव्य है कि कविता का ढग और ढ़र्रा उनके सिद्धान्तों के अनुकूल हो। उन्हें इस बात से विशेष लगाव नही कि कवि की परिस्थिति क्या है और उसके अनुभव किस जीवन यथार्थ से उद्भूत हैं। प्रगतिवादी समीक्षकों पर

व्यंग्य करते हुए मुक्ति बोध अपनी पुस्तक 'नयी कविता का आत्म संघर्ष और अन्य निवन्ध' में लिखते हैं।' साहित्य के वास्तविक जन्मदाताओं के जीवन से मीलों आगे बढ़कर नेतृत्व प्रदान करने वाले आलोचकों में प्रगतिवादी समीक्षकों का स्थान अग्रगामी है। उस पीढ़ी का जीवन जो आगे-आगे आ रही है, लिख रही है। इन समीक्षकों के लिए तभी तक महत्वपूर्ण है, जब तक वह प्रगतिवादी भावों को उन्हीं के ढ़र्रे पर प्रकट करें। उस पीढ़ी की असली जिन्दगी के संघर्ष कष्ट और संवेदनाओं से उन्हें कोई मतलब नहीं। जब यह पीढ़ी निराशा, घुटन, उदासीनता, प्रणय, स्नेह, सौन्दर्य, आश्चर्य, साहस, संघर्ष और विजय की भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रण करती है तो उन्हें वह आत्मबद्ध, आत्मग्रस्त, कुंठामय, अवरुद्ध और व्यक्ति निष्ठ, अहंवादी और गतिरुद्ध प्रतीत होती है। कुल मिलाकर नतीजा यह है कि ये आलोचक साहित्य की वास्तविक जन्मदात्री पीढ़ी की जिन्दगी समझ ही नहीं पाते। एक ओर ऐतिहासिक भौतिकवाद की दृष्टि से वे साहित्य की व्याख्या करते हैं, किन्तु उसी दृष्टि से वे हमारे साहित्यिक जीवन को और उनकी मनोभावनाओं को हृदयंगम नहीं कर पाते।.....वास्तविक जीवन की ज्ञानसंवेदनात्मक और सवेदन ज्ञानात्मक समीक्षा वुद्धि का अभाव ही इस असामर्थ्य का मूल कारण है।" कहना न होगा कि नये कवियों की जिन विवशताओं को प्रगतिवादी और रसवादी समीक्षक समझने में स्वयं को असमर्थ पा रहे थे। प्रगतिवादी होते हुए भी रचनाशील होने के कारण मुक्तिबोध उनके प्रति सहानुभूति रख रहे थे।

प्रगतिवादियों और रसवादियों को नई कविता के आधारभूत मानव जीवन के प्रति कोई अनुराग न था, इसलिए इन नई काव्य प्रवृत्तियों के विशेष संदर्भ भी वे न समझ सके अतएव उन नयी काव्य प्रवृतियों को गलत संदर्भों में देखा गया। निराला की सघन विम्ब व्यवस्था और महादेवी की सघन प्रतीक व्यवस्था उन्हें समझ में आ सकती थी; किन्तु नई कविता की नहीं। "नयी कविता पर आज भी क्लिष्टता और दुरूहता के आरोप लगने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी है। लेकिन इससे यह भी न समझ लिया जाय कि पतनशील प्रवृत्तियों और ऊल-जलूल अनुभूति की वकालत 'नए' के और उनकी जीवनगत विशेषताओं के नाम पर की जा सकती है। जहाँ भी पीड़ा और द्वन्द 'मानव मुक्ति' के लिए अभिव्यक्ति पाता है, विसंगति और भदेस चित्रण रचनात्मक स्तरों पर अन्याय और मानवता के पद दलित होने के विरोध में होता है, आक्रामकता, हिंसा और विद्रोह मुक्ति के द्वार खोलता है, वह चित्रण वरेण्य है—

"मुझे हर वक्त यह ख़याल रहता है कि जूते
और पेशे के बीच

कहीं न कहीं एक अदद आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं
जो जूते से झाँकती हुई अँगुली की चोट
छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है
और बाबूजी असल बात तो यह है कि
जिन्दा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेचकर या रंडियों की
दलाली करके रोजी कमाने में
कोई फर्क नहीं।"

—धूमिल

इसी प्रकार जो कविताएँ हमारे सौन्दर्य बोध को माँजती हैं हमें अनुभूति के उन स्तरों तक ले जाती हैं जहाँ हम 'राग' से साक्षात्कार पाते हैं, अनुभव हमें नया कर जाता है और उसमें कुछ अनदेखा हुआ जुड़ जाता है, तब हमें उसे पूर्ववर्ती काव्य बोध और परम्परागत काव्य स्वाद से हटकर अनुभूत करना होगा —

"शिला का खून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं।"

या

"एक नीला आईना
बेठोस सी यह चाँदनी
और अन्दर चल रहा हूँ मैं
उसी के महातल के मौन में
मौन में इतिहास का
कन किरन जीवित एक बस।"

—शमशेर

नई कविता में जहाँ एक ओर कुत्सित यथार्थ, खण्डित व्यक्तित्व, घुन लगा चिन्तन, ऊब, कुंठा, मनस्तापी अनुभूतियाँ अकेलापन, अहं, बातूनी और बड़बोलापन है, वहीं दूसरी ओर अनुभूति की ईमानदारी, ताजापन, अलोने दृश्य, संवेद्य पीड़ा, वयस्क चिन्तन और कवि कर्म की रचनात्मक श्रेष्ठ उपलब्धियाँ भी है। लोक जीवन से जुड़कर इन कवियों ने संवेदना को नए आयाम दिए है—

"हम नए-नए धानों के बच्चे
तुम्हें पुकार रहे हैं
बादल ओ ! बादल ओ ! बादल ओ !!"

—केदारनाथ सिंह

"चुपाई मारो दुलहिन
मारा जाई कौआ !
दे रोटी
कहाँ गई थी बड़े सवेरे
कर चोटी
लाला के बाजार में
मिली दुअन्नी
पर वह भी निकली खोटी।"

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

नये कवि ने जीवन की संघर्षशीलता को वयस्क होकर पहचाना है और उसकी चुनौती को स्वीकार किया है—

"जिन्दगी मरा हुआ चूहा नहीं है
जिसे मुख में दबाए
बिल्ली की तरह हर शाम गुजर जाए
और मुंडेर पर
कुछ खून के दाग छोड़ जाए।"

—सर्वेश्वरदयाल सक्सेना

इन कवियों ने जीवन के भयावह अन्तर्विरोधों को भी पहचाना है और उनकी क्रूरता और कोमलता को भी समझा है—

"एक अजीब सी प्यार भरी गुर्राहट :
जैसे कोई मादा भेड़िया
अपने छौने को दूध पिला रही है और
साथ ही किसी मेमने का सिर चबा रही है।"

—धूमिल

जीवन मूल्यों का तीव्रता से विघटन, परिवर्तित जीवन आसंगों के लिए भाषाहीनता में अभिव्यक्ति का संकट कवि-कर्म की कठिनाई और यथार्थ के साथ रागात्मक सम्बन्धों की पहचान दुष्कर हो गई है—

"चीजें एक ऐसे दौर से गुजर रही हैं
कि सामने की मेज को सीधे मेज कहना
उसे वहाँ से उठाकर अज्ञात अपराधियों के बीच रख देना है
'तुमने जहाँ लिखा है प्यार
वहाँ लिख दो सड़क
फर्क नहीं पड़ता
मेरे युग का मुहावरा है
फर्क नहीं पड़ता।
और भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं
बल्कि दाँतों के बीच की जगहों पर
सटी हुई है।"

—केदारनाथ सिंह

मूल्यों के विघटन ने सम्बन्धों का संकट श्रीकान्त वर्मा के सामने भी उपस्थित किया है—

"मेरे सामने समस्या है
किसको किस नाम से
पुकारूँ।
आइने को आईना कहूँ या इतिहास"

कविता अब बनाई नहीं जाती, वह सीधी घटित होती है। उसका सम्बन्ध अब यथार्थ से सीधे साक्षात्कार का सम्बन्ध है। अब कविता में व्यक्ति की पीड़ा नहीं गाई जाती, बल्कि अब कविता व्यक्ति की पीड़ा ही है. वह मनोरंजन नहीं है, काव्य पाठक को झिंझोड़ने वाली है, वह काव्य की सजावट के विरुद्ध वक्तव्य है—

"प्रिय पाठक
ये मेरे बच्चे हैं
कोई प्रतीक नहीं
और इस कविता में
मैं हूँ मैं
कोई रूपक नहीं।"

राजनीतिक व्यवस्था और नौकरशाही के विरुद्ध निरन्तर दलित होते हुए समाज द्वारा विद्रोह न किए जाने के प्रति यहाँ तीखा आक्रोश है—

"रक्तपात—
कहीं नहीं होगा
सिर्फ एक पत्ती टूटेगी।
एक कंधा झुक जाएगा।
फड़कती भुजाओं और सिसकती हुई आंखों को
एक साथ लाल फीतों में लपेट कर
वे रख देंगे
काले दराजों के निश्चल एकान्त में
जहाँ रात में
संविधान की धाराएं
नाराज़ आदमी की परछाईं को
देश के नक्शे में बदल देंगी।"

—धूमिल

दर्शन की जमीन है तर्क और कविता तर्क के बाद शुरू होती है। कम से कम नई कविता पर इस दृष्टि से विचार किया जाता है। तर्क कविता को जहाँ 'टेक' और 'केन्द्र' से जोड़ देता है, वहीं वह कविता के ब्योरों का सरलीकरण कर देता है। नई कविता सरलीकरण और सामान्यीकरण के विरुद्ध काव्य यात्रा है, इसलिए वह अपनी पूर्ववर्ती कविता की अपेक्षा कहीं अधिक संशिलष्ट और बहु आयामी है। इकहरन की कविता से उसकी रचना प्रक्रिया भिन्न है। इसलिए धूमिल की 'पटकथा' और अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' से पूर्व छोटी और संशिलष्ट कविताओं का दौर चला था। और कदाचित संवेदना की सगुम्फित अनुभूति के लिए ही कवि ने विसंगति और विडम्बना को बहुतायत से केन्द्र में रखा है। कवि का मत है कि यह ऐसा समय है, जबकि अनुभूति के उन दुर्गम स्तरों और केन्द्रों में जाना होगा, जहाँ पहुंचने के लिए परम्परागत कविता की अभिव्यक्ति कमतर है, इस लिए अभिव्यक्ति के खतरे बढ़ गए है। कहना न होगा कि नयी कविता का संघर्ष इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है—

"अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे
उठाने ही होंगे
तोड़ने होंगे मठ और गढ़ सब।
पहुँचना होगा दुर्गम पहाड़ों के उस पार

तब कहीं देखने मिलेंगी बाँहें
जिसमें कि प्रतिपल काँपता रहता
अरुण कमल एक।"

—मुक्तिबोध

अभिव्यक्ति के नए खतरे उठाता हुआ कवि गम्भीर विषयों के हल्के-फुल्के ढंग से कहता है, इसमें छिपे हुए खतरे को अज्ञेय ने स्वीकार किया था—"क्रीड़ा और लीला भाव भी सत्य हो सकते हैं। जीवन की ऋजुता भी उन्हें जन्म देती है और संस्कारिता भी। देखना यह होता है कि वह सत्य के साथ साथ खिलवाड़ या 'फ्लर्टेशन' मात्र हो।" भवानीप्रसाद मिश्र की 'गीत फरोश' कविता में अगम्भीर ढंग से गम्भीर जीवन सत्य को कहा गया है। अगम्भीरता कथन के ढंग में है, कविता की वस्तु में नहीं। इस दृष्टि से अज्ञेय की 'कांगड़े की छोरियाँ' अजितकुमार चौधरी की 'चाँदनी चंदन सदृश हम क्यों लिखें' रघुवीर सहाय की 'अगर कहीं मैं तोता होता' मुक्तिबोध की 'नूतन अहं' आदि कविताओं का देखा जा सकता है। रघुवीर सहाय ने ही एक अन्य कविता में अत्यन्त 'हल्के ढंग' से देश के साथ हो रहे 'मज़ाक' की गम्भीरता और अर्थ-केन्द्रित हाथों की 'योग्यता' को कवि के अन्तर में छिपी पीड़ा के साथ अभिव्यक्त किया है—

"सेना का नाम सुन देश प्रेम के मारे
मेजे बजाते हैं
सभासद भद भद भद कोई नहीं हो सकती
राष्ट्र की
संसद एक मन्दिर है, जहाँ किसी को द्रोही कहा
नहीं जा सकता
दूध पिए मुँह पोंछे आ बैठे जीवनदानी गोंद
दानी सदस्य तोंद सम्मुख धर
बोले कविता में देश प्रेम लाना हरियाना प्रेम लाना
आइस्क्रीम लाना।"

एक गम्भीर बात कहकर उसको झटके से तोड़ने के लिए एक निहायत हल्की बात कहने पर कविता के 'हल्का' हो जाने का जो खतरा है, नये कवियों ने उसको झेलकर भी यह कथन पद्धति अपनाई है। इस दृष्टि से अज्ञेय की 'धैर्यधन गदहा' डॉ० राम विलास शर्मा की 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' प्रभाकर माचवे की 'मैं और चा की प्याली' भारत भूषण अग्रवाल की 'मैं सुनता रहा मधुर नूपुर ध्वनि यद्यपि बजती थी चप्पल' आदि को देखा जा सकता है।

नयी कविता का एक विशिष्ट ढंग है—कथन में व्यंग्य। नये कवियों ने सामाजिक अन्तर्विरोधों विडम्बना और विद्रूप को अभिव्यक्ति देने के लिए व्यंग्य का विशेष रूप से उपयोग किया है। कठिनाई से ही कोई नया कवि ऐसा होगा, जो जीवनगत विडम्बनाओं की अभिव्यक्ति में व्यंग्य और तल्खी से काम न लेता हो। जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है, जिस पर कवियों ने व्यंग्य न किया हो, लेकिन व्यंग्य के लिए उनका प्रिय विषय राजनीति ही है—

"मगर चालाक 'सुराजिए'
आजादी के बाद के अँधेरे में
अपने पुरखों का रंगीन बलगम
और गलत इरादों का मौसम जी रहे थे
अपने अपने दराजों की भाषा मे बैठ कर
गर्म कुत्ता खा रहे थे
सफेद घोड़ा पी रहे थे।"

—धूमिल

राजनीति इन कवियों का इस दृष्टि से प्रिय विषय इसलिए भी है; क्योंकि वह आज के जीवन की सारी विडम्बनाओं और सारी विकृतियों का कारण है इसमें समाजवादी और संघी सभी की एक ही भूमिका है—

"जनवादी मुद्रा मे
शाखों पर चढ़ी हुई नकचढ़ी हवा
शब्द वृद्ध पत्तों पर
समकालीनता के जन संघी नुस्खे लिखती है।

× × × ×

जंग लगे अचरज से बाहर
आ जाता है आदमी का भ्रम और देश प्रेम
बेकारी की फटी हुई जेब से खिसककर
बीते हुए कल में गिर पड़ता है।"

—धूमिल

लीलाधर जगूड़ी के यहाँ यही व्यंग्य आहत दुख में बदल जाता है कि लोग सब कुछ सह लेते हैं और तब यही आहत दुख निरुपाय आक्रोश में बदल जाता

है और व्यवस्था को न तोड़ पाने के कारण कवि स्वयं ही व्यंग्य का उपादान बन जाता है। नागार्जुन की प्रसिद्ध कविता "पाँच पूत भारत माता के" अज्ञेय की 'रेंक रे रेंक गदहे' व्यंग्य की दृष्टि से स्मरणीय कविताएँ है।

अस्मिता की तलाश में जुड़े हुए अनेक नये कवि अनेक स्तरों पर रहस्यवादी भी हो चले हैं। अज्ञेय की 'असाध्य वीणा' और 'क्योंकि मैं उसे जानता हूं' कविता संकलन की अनेक कविताएँ उनके रहस्यवादी काव्य स्वर की प्रतीतियां हैं। वे भी महादेवी वर्मा की तरह किसी के आने की आहट लेते है—

"शायद कोई आएगा
मै तो स्तब्ध सपने से में
तानपूरा साधाता हुआ बैठा हूं।"

सर्वत्र गोचर मे उसी अगोचर का प्रतिविम्ब देखते हैं, जो अतीन्द्रिय है और जीव जिसका अश है—

"रूपों मे एक अरूप सदा खिलता है
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय
अनुभव मे एक अतीन्द्रिय
पुरुपो में एक हर वैभव मे ओझल
अपौरुषेय मिलता है।"

अज्ञेय की तरह शमशेर वहादुरसिंह भी नव रहस्यवाद की ओर आकर्षित है। वे उस परम सत्ता को मानते है—'वह है' सितारों से परे, जड़ प्रकृति के उस पार अगोचर, पूर्ण निरपेक्ष।"

"क्षानातीत संज्ञा से भी आगे
और वही है, जो कुछ है
है—है से आगे और पार
जो कि है का है का है....
"है"।

यह अवश्य है कि छायावादी रहस्यवादियो से शमशेर की शब्दावली भिन्न है, लगता है, वे नए विम्ब प्रस्तुत कर रहे है, किन्तु इन विम्बों से परे उनका संकेत कहीं सूक्ष्म और विशिष्ट है—

"सुबह—सूर्य नहीं; कारण कि
सूर्य तो उनके तलवों के नीचे दूर फिर भी वहीं
एड़ियों में ही मानो नीचे (कहीं)
उग रहा था व्यक्तिगत
एक महान सूरज प्रत्येक व्यक्ति का।"

मुक्तिबोध भी अज्ञेय और शमशेर की भाँति उस परम अव्यक्त सत्ता की ओर आकर्षण अनुभव करते हैं, यद्यपि उनका यह आकर्षण सबकी मुक्ति कामना से जुड़ा हुआ है. तथापि वह उनके रहस्यवादी होने का भी पर्याप्त प्रमाण है। 'पता नहीं' कविता में वे सब के हृदय में एक अग्निव्यूह देखते है, उस पर पत्थर सतहों का आवरण है ये चट्टानें सहसा काँपती है, टूटती है और भीतर से 'ज्वलत् कोप' उद्‌भूत होता है, प्रज्वलित कमल खिल उठता है—

"उस कमल कोश के पराग स्तर
पर खड़ा हुआ
सहसा होता है प्रकट एक
वह शक्ति पुरुष
जो दोनों हाथों आसमान थामता हुआ
आता समीप अत्यन्त निकट
आतुर उत्कट
तुमको कंधे पर बिठला ले जाने किस ओर
न जाने कहां व कितनी दूर।"

मुक्ति बोध की कविता में 'फंतासी' के माध्यम से कतिपय समीक्षक उनकी रहस्यवादी अनुभूतियों को आधुनिक सदर्भों में विश्लेषित करने की चेष्टा करते हैं, किन्तु उस 'शक्ति पुरुष' की अनंतता और जीव का अन्त में उसमे तिरोभाव जो मुक्तिबोध को इष्ट है, की अवहेलना से कविता का मर्म पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर पाते। 'मुक्तिबोध ने' एक साहित्यिक की डायरी में स्पष्ट ही लिखा है कि लौकिक 'अनुभव को अन्तिम कसौटी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह देशकाल निर्मित है।' इसलिए दिव्य अनुभव जो त्रिकुटी में ज्ञान ज्योति प्रज्वलित करता है मुक्तिबोध को कबीर की अनुभूति के निकट ले जाता है—

"औ आकस्मात्, जबरन धक्के ने
शिला द्वार
वह गुहाद्वार आत्मा का धड़ से

खुलता है
और अन्तर के उस गुहा तिमिर में
एक सुदृढ़
पत्थर के टेबल पर रखे
रक्ताभ दीप की लौ
कुछ हिलती डुलती है।"

कवि को अतीन्द्रिय अनुभव होते है—

"सफेद राख के अचेत शीत
सर्व और रेंगते प्रसार में
दबी हुई अनंत ज्योति जग उठी।"

'एक अन्तर्कथा' में यही अनंत ज्योति जो 'अग्नि रूप' में सूखी टहनी में निवसित है कवि को रोमांचित, आल्हादित और साश्रु कर देती है। आनन्द का अतिरेक कवि में पुराने रहस्यवादियों की तरह उन्माद भर देता है—

"मेरा तो सिर फिर जाता है
औ, मस्तक में
ब्रह्माण्ड दीप्ति सी घिर उठती
रवि किरण बिन्दु आँखों में स्थिर हो जाता है।"

और तब कवि स्वयं में ही डूब जाता है। स्वयं को ही सम्बोधित करता है और स्वयं में से ही उस ज्ञान को अंकुरित होते देखता है क्योंकि स्वयं में खोकर ही आत्म ज्ञान पाया जा सकता है—

"मैं अपने से ही सम्बोधित, मन मेरा डूबा जिन में ही
मेरा ज्ञान उठा निज में से, मार्ग निकाला अपने से ही
मैं अपने मे ही जब खोया तो अपने से ही कुछ पाया
निज का उदासीन विश्लेषण आँखों में आंसू भर लाया।"

अनुभूति के नएपन को कहने के लिए नये कवियों ने अभिव्यक्ति के ढ़ंग में दूर तक प्रयोग किए; क्योंकि 'जिन्दगी के गन्दे न कह सके जाने वाले अनुभवों के ढ़ेर का/भयंकर विशालकाय प्रतिरूप !! स्याह ! (मुक्तिबोध) इन कवियों को अभिव्यक्ति के रास्ते बदलने के लिए विवश कर रहा था। इसलिए शिल्प स्तर पर वे 'फेंटेसी' का सहारा ले रहे थे और तिलिस्मी शिल्प गढ़ रहे थे—

"उसके प्राण के अन्दर वने गहरे अनेक दराज
उनमें से निकलते हैं, रिवाल्वर लक्ष्य उत्सुक क्षुब्ध"

'अँधेरे में' कविता में मुक्तिबोध इसी फेंटेसी शिल्प का प्रयोग करते हैं—

"मकानों के छत से
गाडर कूद पड़े धम से।
घूम उठे खम्भे भयानक वेग से
चल पड़े हवा में।"

मुक्तिबोध ने इस फेंटेसी शिल्प के विपथ में 'एक अन्तर्कथा' कविता में लिखा भी है—

"मैं विचरण करता सा हूँ एक फेंटेसी में
यह निश्चित है कि फेंटेसी कल वास्तव होगी।"

शिल्प में फेंटेसी का प्रयोग सर्वेश्वरदयाल सक्सेना भी करते हैं—

"चाँद आकाश में बड़े सुनहरे मकड़े की तरह
धीरे धीरे गर्व से रेंगता हुआ आता है
मुझे दबोच लेता है।"

कविता में ताजगी और टटकापन वनाए रखने के लिए, अनुभूति के संश्लिष्ट रूपाकारों के लिए नये कवियों ने विम्व का पर्याप्त प्रयोग किया है। कहा जा सकता है कि छायावादी कविता चित्र वोझिल कविता थी और नयी कविता विम्व-वोझिल कविता है। ताजे विम्वों की निर्मिति में शमशेर, नरेश मेहता, कुँवर नारायण, केदारनाथ सिंह, कीर्ति चौधरी, श्रीकान्त वर्मा, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इन कवियों को नीले आकाश के फलक पर वगुले मुट्ठी भर फेंकी हुई कौड़ियों से लगते हैं—

"एक मुट्ठी कौड़ियों से श्वेत वगुले
व्योम फिक कर खिले,
फिर खो गए।"

—कुँवर नारायण

नरेश मेहता 'वोलने दो चीड़ को' अपने कविता संकलन में 'चाहता मन' कविता में सुरमई पीले रंगों से वनते-मिटते रंगों में सुवह को दोपहर में परिवर्तित होते देखते हैं। विम्व की सद्यता अनुभूति को स्फूर्ति से भर जाती है—

"गोमती तट
दूर पेंसिल रेख सा
वह बाँस झुरमुट
शरद दुपहर के कपोलों पर उड़ी वह
धूप की लट
जल के नग्न ठंडे बदन पर का
झुका कोहरा
लहर पीना चाहता है।"

'माया दर्पण' में श्रीकान्त वर्मा भी ऐसे ही ताजे प्रकृति-बिम्बों की आयोजना करते हैं—

"बाँसों के झुँझकुर में अपनी लाज फेंक कर
एक भेड़िए की खरोंच
जपने नितम्ब पर (मूर्च्छित पोखर)
एक कहीं पर बैठी पिड़कुलिया
चिल्लाकर जाती है उड़
और दोपहर भंग
(सारा जगल दंग)।"

शिल्प स्तर पर बिम्ब के महत्व को आँकते हुए केदारनाथ सिंह कविता में बिम्ब निर्मिति की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते हैं—"मैं बिम्ब निर्माण की प्रक्रिया पर जोर इसलिए दे रहा हूँ कि आज काव्य के मूल्यांकन का प्रतिमान लगभग वही मान लिया गया है। एक अग्रेज आलोचक का तो यहाँ तक कहना है कि आधुनिक कवि नये-नये बिम्बों की योजना के द्वारा ही अपनी नागरिकता का शुल्क अदा करता है। तात्पर्य यह है कि प्राचीन काव्य में जो स्थान 'चरित्र' कथा आज की कविता में वही स्थान बिम्ब अथवा 'इमेज' का है।" कहना न होगा कि अभिव्यक्ति को सघन बनाने के लिए कवियों में बिम्ब की इस शक्ति को हिन्दी कविता ने भी पहचाना। स्वयं केदार नाथ सिंह की कविताएं एक प्रकार से बिम्ब धर्मी कविताएं हैं। अमूर्त्तन के चाक्षुष बिम्बों में उनकी कला निखरी है—

"फूल जैसे अँधेरे में दूर से ही
चीखता हो
इस तरह वह दर्पनों में कौंध जाता है।"

'धानों का गीत' में उन्होंने गतिमय ताजे बिम्बों की अवतारणा की है, एक उदाहरण --

"झीलों के पानी खजूर हिलेंगे
खेतों के पानी बबूल
पछुआ के हाथों में शाखें हिलेंगी
पुरवा के हाथों में फूल ।"

शमशेर राग सम्बन्धों के बिम्बवादी कवि हैं। उनके बिम्ब अनुभूति के स्तर पर अधिक झीने और अधिक कलात्मक हैं। उपमानों की नवीनता के साथ वे बिम्बों के आन्तरिक रचनात्मकता से बुनते हैं—

"सिर्फ अमरूदों की सी गोरी सुनहरी धूप
अंगों की
फ्रेम से उभरती हो कमरे के एकान्त में ।"

शमशेर के काव्य बिम्बों की विशेषता उनके विविध संदर्भो के अन्तर्गथित होने में भी है। उपर्युक्त बिम्ब में वे 'अमरूदों' के माध्यम से भुवनेश्वर के इलाहाबाद में रहने का संदर्भ जोड़ देते हैं, यह बिम्ब संरचना में अतिरिक्त काव्य शक्ति का विनियोजन है। 'गीली मुलायम लटें' 'कत्थई गुलाब थामे हुए हैं' जैसे चाक्षुप टटके बिम्बों को साथ शमशेर सूक्ष्म चिन्तन की व्यंजनाओं से समन्वित बिम्बों के माध्यम से अमूर्त्तन की प्रक्रिया को भी साधते हैं—

"घिर गया है समय का रथ कहीं
लालिमा से मढ़ गया है राग ।"

नयी कविता के शिल्प में 'बिम्बवाद' से ठीक विपरीत जो कथन भंगिमा प्रयोग में लाई गई है, वह 'सपाट बयानी' है। अर्थात् शिल्पहीन शिल्प। वक्तव्य और सपाट बयानी में बड़ा महीन अन्तर है, यह कवि की कलात्मक चेतना पर और शिल्पगत अनुशासन पर निर्भर करता है कि वह सपाट बयानी को वक्तव्य होने से बचा पाए। सपाट बयानी में अनुभूति का भंगिमाहीन साक्षात्कार होता है लेकिन काव्य अर्थ को व्यक्त करने में जो स्वयं भी एक भंगिमा होती है, मुक्तिबोध की कविता से एक उदाहरण देखें—

"कविता में कहने की आदत नहीं
पर कह दूँ
वर्तमान समाज में [ये] चल नहीं सकता ।"

पूँजी से जुड़ा हुआ हृदय बदल नहीं सकता
स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी
छल नहीं सकता मुक्ति के मन को
जन को।"

रघुवीर सहाय ने सपाट बयानी का रास्ता विशेष रूप से चुना है। 'आत्म-हत्या के विरुद्ध' और 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' कविता संकलनों में उन्होंने सीधी अभिव्यक्ति की है, इसलिए कविताओं को पहले पाठ में 'वक्तव्यबाजी' का भ्रम होता है, लेकिन उनका 'सपाट बयान' बयान नहीं सपाट अभिव्यक्ति है, जो तीखे यथार्थ का व्यंग्य के स्तर पर साक्षात्कार कराती है, उनकी 'भाषण' कविता सपाट बयानी के कारण 'भाषण' है—

"राम ने कहा था
राम ने कहा था
राम ने कहा था
श्री राम ने कहा था कि मोहन एक अच्छा लड़का है
वह रोज सवेरे उठता है पैदल जाता है, विद्या से उसे बड़ा प्रेम है
वह किसी की बात को नहीं मानता
सोच समझकर अपना काम करता है।"

लेकिन सपाट बयानी के खतरे को संभालते हुए लिखी गई 'एक अधेड़ भारतीय आत्मा' शीर्षक कविता वक्तव्य के विरुद्ध विशिष्ट कविता है। बिम्ब को कविता के मूल्यांकन का प्रतिमान मानने वाले कवि केदारनाथ सिंह भी बिम्ब निर्माण छोड़कर सपाट बयानी की ओर अग्रसर हुए हैं, क्योंकि जीवन के क्रूर और विडम्बनापूर्ण यथार्थ को बिम्ब नहीं सपाट बयानी के जरिए ही कहा जा सकता है—'जमीन' कविता के इस सपाट कथन में 'भक्तिव्य' की झलक दिखाई देती है—

"वह उस औरत के पास जाएगा
और कहेगा—सब्जी अगर नहीं पकती
तो कोई बात नहीं
जमीन पक रही है।"

भवानी प्रसाद मिश्र ने अपनी कविताओं में सपाट बयानी शिल्प का पर्याप्त प्रयोग किया है। वे बात को सीधे कहकर बात की गम्भीरता बढ़ा देते हैं—

"उद्दाम मत होने दो
किसी भी इच्छा को
चाहे वह मुक्ति की ही क्यों न हो।"

विम्ब चूँकि कविता को अति-कलात्मक बनाता है, इसलिए भी कवि वस्तु को प्रमुखता देने के लिए सपाट बयानी के प्रयोग की ओर उन्मुख हुए हैं।

नयी कविता जिसकी कि पूर्ववती कविता 'प्रयोगवादी' कविता थी, उसमें नए उपमानों के लिए विशेष आग्रह था। अज्ञेय की कविता में सौन्दर्य का उपमान 'कलँगी बाजरे की' था और अजित कुमार चाँदनी को 'खोटे रूपए सी' कह रहे थे। अभिप्राय यह था कि नए कथ्य और भाव बोध की अभिव्यक्ति में परम्परा विहित उपमान अभिव्यक्ति के सक्षम माध्यम नहीं बन पा रहे थे, इसलिए कवि नए उपमानों के जरिए 'वस्तु' के विस्तार और उसकी अभिव्यक्ति के पैनेपन पर जोर दे रहे थे। 'प्रयोगवाद' के पश्चात् नए उपमानों की आत्यन्तिकता का आग्रह कम हुआ और वह शिल्प के सहज अनुशासन में आ गया, लेकिन फिर भी नयी कविता मे उपमानों का नयापन उसकी अपनी विशेषता बनी रही। उपमानों की दुनिया सिमट कर विम्बों और 'फंतासियों' में और व्यापक हो गई। धूमिल की कविता 'प्रौढ़ शिक्षा' मे खुला मुँह 'अंधी गुफा के द्वार की तरह' है जिसमें भाषा की सार्थकता प्रश्न चिह्न बनकर रह गई है। जहाँ 'मन झुँझलाया हुआ बच्चा' हो जाता है। मुक्तिबोध के यहाँ व्यक्ति 'कराह' बन जाता है। और जीवन यथार्थ से जुड़कर—

"नंगी सी नारियों के
उघरे हुए अंगों के
विभिन्न पोजों मे
लेटी थी चाँदनी।"

चाँदनी नहीं स्त्री-रूप हो जाती है। उपमानों के नएपन का संतुलित आग्रह कुँवर नारायण, शमशेर, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा, कैलाश वाजपेयी, लीलाधर जगूड़ी आदि कवियों के यहाँ स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

नयी कविता में संश्लिष्ट अनुभूतियों की अनेक स्तरीय अभिव्यक्ति के लिए नवीन प्रतीक संयोजना भी कवियों को इष्ट रही है। 'अपनी पत्नी की मृत्यु पर' कविता में सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के नए प्रतीक विधान का एक उदाहरण—

"छाती पहाड़ बनाते बनाते
मैं आदमी से नाव बनता जा रहा हूँ।"

इस कविता में 'खिलौने' बच्चों का प्रतीक हैं और 'अपना कटा हुआ दाहिना हाथ' 'पत्नी के शव' और खण्डित जीवन का प्रतीक है। शमशेर की रचनाधर्मिता और

और अज्ञेय की मुख्यतः प्रतीक धर्मी काव्य चेतना से ही जुड़ी हुई है। धूमिल की 'मोचीराम' कविता में 'फटे हुए जूते' सर्वहारा का प्रतीक है। श्रीकान्त वर्मा की कविता 'हेर फेर' नये प्रतीको के भरपूर है। इस कविता में रथ प्रतीक है 'राज्य व्यवस्था' का 'उल्लू' 'नेतृत्व' का और 'वेजुवान' 'लाचार जनता' का—

"रथ में जुते है दो उल्लू
पहियों की जगह
वेजुवान है।"

मुक्तिबोध की कविता 'ब्रह्म राक्षस' मे ब्रह्मराक्षस' इतिहास के गलत व्याख्याकार का प्रतीक है—

"सभी के सिद्ध-अन्तों का
नया व्याख्यान करता वह
नहाता ब्रह्मराक्षस, श्याम
प्राक्तन न वावड़ी का
उन घनी गहराइयों मे शून्य।"

जिसकी व्याख्या से कुछ उपलब्ध नही होता केवल शून्य के अतिरिक्त। अज्ञेय की 'सोन मछली' कविता मे 'सोन-मछली' जिजीविषा की प्रतीक है। अज्ञेय ने 'मछली' का प्रतीक रूप मे उपयोग अपनी अनेक कविताओं मे किया है—

'अर्थ हमारा
जितना है, सागर मे नही
हमारी मछली मे है
सभी दिशा मे सागर जिसको घेर रहा है।"

नये कवियो ने कविता में 'नाटकीयता' का भी विधान किया है, जिसके माध्यम से वे आधुनिक जीवन के अन्तर्विरोध और विद्रूपताओ को अतिरिक्त 'भगी' से थोड़े मे ही अभिव्यक्त कर देते है। 'तीसरा सप्तक' मे संकलित मदन वात्सायन की कविता 'असुरपुरी मे दस से छः' की प्रशसा करते हुए शमशेर ने लिखा था कि 'कवि तुम तो कविता मे नाटक 'कन्डक्ट' करते हो। कहना न होगा कि अधिकंश आज के कवि कविता मे अतिरिक्त 'नाटकीयता' का विधान करते

हैं। श्रीकान्त वर्मा के 'माया दर्पण' धूमिल के 'संसद से सडक तक' रघुवीर सहाय के 'आत्म हत्या के विरुद्ध' और हँसो-हँसों जल्दी हँसों' लीलाधर जगूडी के 'नाटक जारी है' कैलाश वाजपेयी के 'संक्रान्त' 'देहान्त से हटकर' 'तीसरा अंधेरा' और 'महास्वप्न का मध्यान्तर' आदि काव्य संकलनों में नाटकीयता के इस प्रभावी स्वरूप को देखा जा सकता है। यह 'नाटकीयता' जितनी कवियों की 'काव्य वस्तु' में है, उससे अधिक उनके कविता लिखने के ढ़ंग में है। इसके माध्यम से कवि व्यंग्य को पैना करने में भी अतिरिक्त सहायता प्राप्त करता है।

नयी कविता में लम्बी प्रगीतात्मक रचनाएँ भी लिखी गईं हैं। काव्य नाटक और नाट्य काव्यों का भी सृजन हुआ हैं। पौराणिक मिथकों का आधुनिक जीवन संदर्भो में नया आख्यान किया गया है। अज्ञेय का 'उत्तर प्रियदर्शी' भारती का 'अन्धा युग' और कनुप्रिया' कुंवर नारायण का 'आत्मजयी' दुष्यन्त कुमार का 'एक कंठ विषपायी' नरेश मेहता का 'संशय की एक रात' कुछ सफल और कुछ सफलतम काव्य ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार पतनशील प्रवृत्तियों की पर्याप्त अभिव्यक्ति के बावजूद नयी कविता में जीवन का स्वस्थ पक्ष भी है। शिल्प स्तर पर उसकी उपलब्धियां हैं और आधुनिक युग की चेतना को अभिव्यक्ति देने में वह समक्ष रही है।

नयी कविता से पूर्व और नयी कविता के बाद भी हिन्दी कविता में विभिन्न नामों से अनेक काव्यान्दोलन चले। 'अकविता' आन्दोलन को किंचित सफलता अवश्य मिली, लेकिन उसमें नयी कविता की चेतना ही प्रमुख थी, केवल जो प्रत्यक्ष अन्तर था, यह यह कि इसमें पतनशील प्रवृत्तियों का खुल कर वीभत्स और कुरूप चित्रण हुआ है, काम की भूख, अतृप्त वासनाएँ, असामान्य और ओढ़ी हुई मनःस्थिति संस्कारहीन और 'सड़क छाप' भाषा, जीवन में मूल्यहीनता की अतिशयोक्ति पूर्ण अभिव्यक्ति, आत्म स्फीति और आत्मरति ने इस कविता के प्रति पाठक में ऊब और अरुचि उत्पन्न की, अतः इस आन्दोलन को कोई विशेष सफलता नहीं मिल सकी और नकेन के 'प्रपद्यवाद' की भांति ही यह आन्दोलन भी कम आयु में ही समाप्त हो गया। अकविता का सिद्धान्त पक्ष किसी सीमा तक विचारणीय हो सकता था, किन्तु काव्य उपलधि अत्यन्त निचले स्तर की रही। इसके साथ ही अनेक घोषित अकवियों और नये कवियों की रचनाओं में समान चेतना परिलक्षित होती है। अकवियों में जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार, मुद्राराक्षस, सौमित्र मोहन, गंगाप्रसाद विमल, मोना गुलाटी, चन्द्रकान्त देवताले आदि के नाम लिए जाते हैं। मैथ्यू आर्नल्ड पर लिखे गए एक निबन्ध में टी. एस.

इलियट ने सौंदर्यबोध के अन्तर्गत कुरूपता, भयानकता और भव्यता आदि को देखा था, कदाचित, अकवियों की कविताओं में प्रमुख रूप से यहीं बोध केन्द्रीय विषयों में ढ़ला। इन कवियों की रचनाओं पर अल्वर्ट, माराविया, डी. एच. लारेन्स, नोवोकोन और सार्त्र की रचनाओं का भी प्रभाव पड़ा है। मूलतः ये कवि नये कवियो की प्रथम पंक्ति मे नहीं आते थे, अतः प्रतिष्ठित और चर्चित होने के लिए भी इन्होंने उक्त काव्य आन्दोलन चलाया। इन कवियो मे से अधिकांश ऐसे है, जिन्होंने कहानी में भी अकहानी, सचेतन कहानी जैसे कई नाम आन्दोलन चलाए। मुख्यतः उनकी प्यास प्रतिष्ठित होने की और स्वीकृत होने की प्यास थी।

अकविता के अतिरिक्त सीमान्तक कविता, सनातन सूर्योदयी कविता, सकविता, शिविर कविता, अन्यथावादी कविता, क्षुत्कातर कविता, अस्वीकृत कविता, उत्कविता, समाहारात्मक कविता, विद्रोही कविता, अधुनातन कविता, अत्याधुनिक कविता, नूतन कविता, निर्दिशायामी कविता, लिग्वादलमोतवादी कविता, एब्सर्ड कविता, ठोस कविता, बीट कविता, नव प्रगतिवादी कविता, कोलाज कविता, साम्प्रतिक कविता, दीपान्तर कविता, ताजी कविता, अति कविता, टटकी कविता, अगली कविता, प्रतिवद्ध कविता, नंगी कविता, गलत कविता, शनिश्चरी कविता, धक्कावादी कविता, सहज कविता और शुद्ध कविता आदि अनेक काव्य के नाम आन्दोलन चले। शुद्ध कविता के 'दर्शन' के साथ रामधारी सिंह दिनकर ने 'शुद्ध कविता की खोज' एक ग्रन्थ ही लिख दिया। समकालीन कविता और सामयिक कविता जैसे नाम भी प्रचलित हुए। यहाँ तक भी हुआ कि कुछ उत्साही और अवसरवादी आलोचकों (?) ने समकालीन कविता का सिद्धान्त और प्रतिमान निरूपण भी कर दिया जैसे हर पल घटने का भी हर पल सिद्धान्त होता है। रंग कविता और 'व्यग्य कविता' जैसे नाम भी दिए गए किन्तु इन काव्य आन्दोलनों की प्रतिभाशाली रचनाशील नेतृत्व और कृतित्व की उपलब्धि के अभाव में असमय मे ही मृत्यु होती रही। यों समकालीन कविता का नारा अभी चल रहा है किन्तु उसकी 'सामयिकता' भी अब निर्विवाद हो चली है।

'रामधारीसिंह दिनकर'

अनल-किरीट

लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होने वाले !
कालकूट पहले पी लेना, सुधा-बीज बोनेवाले !
धरकर चरण विजित शृंगों पर झण्डा वही उड़ाते हैं,
अपनी ही उँगली पर जो खंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच मत तलवों से कांटे रुककर,
फूँक-फूँक चलती न जवानी चोटों से बचकर, झुककर।
नींद कहाँ उनकी आँखों में जो धुन के मतवाले हैं ?
गति की तृषा और बढ़ती पड़ते पद मे जब छाले हैं।
जागरूक की जय निश्चित है, हार चुके सोनेवाले !
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !

जिन्हे देखकर डोल गई हिम्मत दिलेर मरदानों की
उन मौजों पर चली जा रही किश्ती कुछ दीवानों की।
बेफिक्री का समाँ कि तूफाँ में भी एक तराना है
दाँतों उँगली धरे खड़ा अचरज से भरा जमाना है।
अभय बैठ ज्वालामुखियों पर अपना मंत्र जगाते हैं,
ये हैं वे, जिनके जादू पानी में आग लगाते है !
रुह जरा पहचान रखे इनकी जादू-टोनेवाले
लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक होनेवाले !

नारी

खिली भू पर जब से तुम नारि,
कल्पना-सी विधि की अम्लान,

रहे फिर तब से अनु-अनु देवि !
लुब्ध भिक्षुक-से मेरे गान ।

तिमिर में ज्योति-कली को देख
सुविकसित, वृन्तहीन, अनमोल;
हुआ व्याकुल सारा संसार,
किया चाहा माया का मोल ।

हो उठी प्रतिमा सजग प्रदीप्त,
तुम्हारी छवि ने मारा बाण;
बलोने लगे स्वप्न निर्जीव,
सिहरने लगे सुकवि के प्राण ।

लगे रचने निज उर की तोड़
तुम्हारी प्रतिमा प्रतिमाकार,
नाचने लगी कला चहुँ ओर
भाँवरी दे-दे विविध प्रकार ।

ज्ञानियों ने देखा सब ओर
प्रकृति की लीला का विस्तार;
सूर्य, शशि, उडु जिनकी नख-ज्योति
पुरुष उन चरणों का उपहार ।

अगम 'आनन्द'-जलधि में डूब
तृषित 'सत-चित्' से पायी पूर्ति;
सृष्टि के नाभि-पद्म पर नारि !
तुम्हारी मिलि मधूर रस मूर्ति !

कुशल विधि के मानस की नवनीत,
एक लघु दिव-सी हो अवतीर्ण,
कल्पना सी, माया सी, दिव्य
विभा-सी भू पर हुई विकीर्ण ।

दृष्टि तुमने फेरी जिस ओर
गई खिल कमल-पंक्ति अम्लान;
हिंस्र मानव के कर से स्रस्त
शिथिल गिर गये धनुष औ' बाण ।

हो गया मन्दिर दृगों को देख
सिंह-विजयी बर्बर लाचार,
रूप के एक तन्तु में नारि,
गया बँध मत्त गयन्द-कुमार।

एक चितवन के शर ने देवि!
सिन्धु को बना दिया परिमेय,
विजित हो दृग-मद मे सुकुमारि!
झुका पद-तल पर पुरुष अजेय।

कर्मियों ने देखा जब तुम्हे,
टूटने लगे शम्भु के चाप।
वेधने चला लक्ष्य गाण्डीव,
पुरुष के खिलने लगे प्रताप।

हृदय निज फरहादो ने चीर,
बहा दी पय की उज्ज्वल धार,
आरती करने को सुकुमारि!
इन्दु को नर ने लिया उतार।

एक इंगित पर दौड़े शूर
कनक-मृग पर होकर हत-ज्ञान,
हुई ऋषियो के तप का मोल
तुम्हारी एक मधुर मुस्कान।

विकल उर को मुरली मे फूंक,
प्रियक-तरु-छाया मे अभिराम,
बजाया हमने कितनी बार
तुम्हारा मधुमय 'राधा' नाम।

कढी यमुना से कर तुम स्नान,
पुलिन पर खडी हुई कच खोल,
सिक्त कुन्तल से झरते देवि!
पिये हमने सीकर अनमोल!

तुम्हारे अधरो का रस प्राण!
वासना-तट पर, पिया अधीर;

अरी ओ माँ, हमने हैं पिया,
तुम्हारे स्तन का उज्ज्वल क्षीर।

पिया शैशव ने रस-पीयूष
पिया यौवन ने मधु-मकरन्द;
तृषा प्राणों की पर, हे देवि !
एक पल को न सकी हो मन्द।

पुरुष पँखुड़ी को रहा निहार
अयुत जन्मों से छवि पर भूल,
आज तक जान न पाया नारि !
मोहिनी इस माया का मूल !

न छू सकते जिसको हम देवि !
कल्पना वह तुम अगुण, अमेय;
भावना अन्तर की वह गूढ़,
रही जो युग-युग अकथ, अगेय।

तैरती स्वप्नों में दिन-रात
मोहिनी छवि-सी तुम अम्लान,
कि जिसके पीछे-पीछे नारि !
रहे फिर मेरे भिक्षुक गान।

प्रतिशोध

जिनकी भुजाओं की शिराएँ फड़की ही नहीं,
जिनके लहू में नहीं वेग है अनल का;
शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा,
चक्खा ही जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का;
जिनके हृदय में कभी आग सुलगी ही नहीं,
ठेस लगते ही अहंकार नहीं छलका;

जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है,
बैठते भरोसा किये वे ही आत्मबल का।
उसकी सहिष्णुता, क्षमा का है महत्त्व ही क्या,
करना ही आता नहीं जिसको प्रहार है?
करुणा, क्षमा को छोड़ और क्या उपाय उसे
ले न सकता जो वैरियों से प्रतिकार है?
सहता प्रहार कोई विवश, कदर्य जीव
जिसकी नसों में नहीं पौरुष की धार है;
करुणा, क्षमा है क्लीव जाति के कलंक घोर,
क्षमता क्षमा ही शूर-वीरों का सिंगार है।
प्रतिशोध से हैं होती शौर्य की शिखाएँ दीप्त,
प्रतिशोध-हीनता नरों में महापाप है।
छोड़ प्रतिवैर पीते मूक अपमान वे ही,
जिनमें न शेष शूरता का वह्नि-ताप है।
चोट खा सहिष्णु व' रहेगा किस भाँति, तीर
जिसके निषङ्ग में, करों में दृढ़ चाप है?
जेता के विभूषण सहिष्णुता-क्षमा हैं, किन्तु
हारी हुई जीत की सहिष्णुताऽभिशाप है।
सटता कहीं भी एक तृण जो शरीर से तो,
उठता कराल हो फणीश फुफकार है;
सुनता गजेन्द्र की चिंघार जो वनों में कहीं
भरता गुहा में ही मृगेन्द्र हुहुंकार है,
शूल चुभते हैं, छूते आग है जलाती; भू को
लीलने को देखो, गर्जमान पारावार है;
जग में प्रदीप्त है इसी का तेज, प्रतिशोध
जड़-चेतनों का जन्मसिद्ध अधिकार है।
सेना साज हीन है परस्व रहने की वृत्ति,
लोभ की लड़ाई क्षात्र धर्म के विरुद्ध है;
वासना-विषय से नहीं पुण्य उद्भुत होता,
वाणिज के हाथ की कृपाण ही अशुद्ध है।

चोट खा परन्तु, जब सिंह उठता है जाग,
उठता कराल प्रतिशोध हो प्रबुद्ध है;
पुण्य खिलता है चन्द्रहास की विभा में तब,
पौरुष की जागृति कहाती धर्म-युद्ध है।

धर्म है हुताशन का धधक उठे तुरन्त,
कोई क्यों प्रचण्ड-वेग वायु को बुलाता है?
फूटेंगे कराल कण्ठ ज्वालामुखियों का ध्रुव,
आनन पर बैठ विश्व धूम क्यों मचाता है?
फूंक से जलायेगा अवश्य जगती को व्याल,
कोई क्यों खरोंच मार उसको जगाता है?
विद्युत खगोल से अवश्य ही गिरेगी, कोई
दीप्त अभिमान को क्यों ठोकर लगाता है?

युद्ध को बुलाता है अनीति-ध्वजधारी या कि
वह जो अनीति-भाल पै दे पाँव चलता?
वह जो दबा है शोषणों के भीम शैल से या
वह जो खड़ा है मग्न हँसता–मचलता?
वह जो बना के शान्ति-व्यूह सुख लूटता या
वह जो अशान्त हो क्षुधानल से जलता?
कौन है बुलाता युद्ध? जाल जो बनाता?
या जो जाल तोड़ने को क्रुद्ध काल-सा निकलता?

पातकी न होता हैं प्रबुद्ध दलितों का खड्ग,
पातकी बताना उसे दर्शन की भ्रान्ति है।
शोषण की शृङ्खला के हेतु बनती जो शान्ति,
युद्ध है, यथार्थ में, वो भीषण अशान्ति है;
सहना उसे हो मौन हार मनुजत्व की है,
ईश की अवज्ञा घोर, पौरुष की श्रान्ति है;
पातक मनुष्य का है, मरण मनुष्यता का,
ऐसी शृङ्खला में धर्म विप्लव है; क्रान्ति है।

कौन है अंकुश, इसे मैं भी नहीं पहचानता हूँ।
पर, सरोवर के किनारे कंठ में जो जल रही है,
उस तृषा उस वेदना को जानता हूँ।
आग है कोई, नहीं जो शान्त होती;
और खुल कर खेलने से भी निरन्तर भागती है।
रूप का रसमय निमंत्रण
या कि मेरे ही रुधिर की वह्नि
मुझ को शान्ति से जीने न देती।
हर घड़ी कहती, उठो
इस चन्द्रमा को हाथ से धर कर निचोड़ो,
पान कर लो यह सुधा, मैं शान्त हूँगी,
अब नहीं आगे कभी उद्भ्रान्त हूँगी।
किन्तु रस के पात्र पर ज्यों ही लगाता हूँ अधर को
घूँट या दो घूँट पीते ही
न जाने, किस अतल से नाद यह आता.
'अभी तक भी न समझा ?
दृष्टि का जो पेय है, वह रक्त का भोजन नहीं है।
रूप की आराधना का मार्ग आलिंगन नहीं है।
टूट गिरती हैं उमंगें,
बाहुओं का पाश हो जाता शिथिल है।
अप्रतिभ मैं फिर उसी दुर्गम जलधि में डूब जाता,
फिर वही उद्विग्न चिन्तन,
फिर वही पृच्छा चिरन्तन,
'रूप की आराधना का मार्ग
आलिंगन नहीं तो और क्या है ?
स्नेह का सौन्दर्य को उपहार
रस-चुम्बन नहीं तो और क्या है ?'
रक्त की उत्तप्त लहरों की परिधि के पार
कोई सत्य हो तो,
चाहता हूँ, भेद उनका जान लूँ।
पन्थ हो सौन्दर्य की आराधना का व्योम में यदि

शून्य की उस रेख को पहचान लूँ।
पर, जहाँ तक भी उड़ूँ, इस प्रश्न का उत्तर नहीं है।
मुक्ति महदाकाश में ठहरे कहाँ पर ? शून्य है सब।
और नीचे भी नहीं संतोष,
मिट्टी के हृदय से
दूर होता ही कभी अंबर नहीं है।
क्या व्यथा को झेलता
आकाश की निस्सीमता में
घूमता-फिरता विकल, विभ्रान्त
पर, कुछ भी न पाता।
प्रश्न को कढ़ता,
गगन की शून्यता में गूँज कर सब ओर
मेरे ही श्रवण मे लौट आता।
और इतने मे मही का गान फिर देता सुनायी,
'हम वही जग है जहाँ पर फूल खिलते हैं।
दूब है शय्या हमारे देवता की,
पुष्प के वे कुंज मन्दिर है,
जहाँ शीतल हरित, एकान्त मडप मे प्रकृति के
कटकित युवती-युवक स्वच्छन्द मिलते है।
'इन कपोलों की ललाई देखते हो ?
और अधरो की हँसी यह कुन्द-सी, जूही-कली-सी ?
गौर चपक यष्टि-सी यह देह श्लथ पुष्पाभरण से,
स्वर्ण की प्रतिमा कला के स्वप्न-साँचे में ढली-सी ?
यह तुम्हारी कल्पना है, प्यार कर लो।
रूपसी नारी प्रकृति का चित्र है सबसे मनोहर।
ओ गगनचारी ! यहाँ मधुमास छाया है।
भूमि पर उतरो,
कमल, कर्पूर, कुंकुम से. कुटज से
इस अतुल सौन्दर्य का शृङ्गार कर लो।"

हरिवंशराय 'बच्चन'

चल चुका युग एक जीवन

तुमने उस दिन
शब्दों का जाल समेट
घर जाने की बन्दिश की थी।
सफल हुए?
सफल नहीं हुए
तो इरादे में कोई खोट थी।
तुमने जिस दिन जाल फैलाया था
तुमने उद्बोधन किया था,
तुम उपकरण हो
जाल फैल रहा है
हाथ किसी और के हैं।
तब समेटने वाले हाथ तुम्हारे हो गए?
फिर सिमटना
इस जाल का स्वभाव ही नहीं;
सिमटता सा कभी
इसके फैलने का ही दूसरा रूप है,
साँसों के भीतर आने-जाने सा,
आरोह-अवरोह के गाने सा।
(कभी किसी के लिए सम्भव हुआ जाल समेटा
तो उसने जाल को छूआ भी नहीं;
मन को मेटा।
कठिन तप है बेटा!)
और घर?
वह अब है भी कहाँ।
जो शब्दों का घर बनाते हैं
वे और सब घरों से निर्वासित कर दिए जाते हैं।

पर शब्दो के मकान मे रहने का
मौरुसी हक भी पा जाते है।
और,
लौटना भी तो कठिन हे चल चुका युग एक जीवन
अब शब्द ही घर है
घर ही जाल हे
जाल ही तुम हो
अपने से ही उलझो
अपने से ही सुलझो
अपने मे ही गुम हो।

बुद्ध के साथ एक शाम

रक्त रजिन साँझ के
आकाश का आधार लेकर
एक पत्र विहीन तरु
ककाल सा आगे खडा हे।
टुनगुनी पर नीड शायद चील का
खासा बडा है।

मोटी डाल पर हे
एक भारी चील वैठी
एक छोटी चिड़ी पंजे से दबाए
जो कि रह-रह पंख
घबराहट-भरी असमर्थता से
फडफडाती
छुट न पाती,
चील कटिया सी नुकीली चोच से
है वार-बार प्रहार करती,
नोच कर पर डाल से नीचे गिराती
माँस खाती मोड गरदन
इस तरफ को उस तरफ को देख लेती

चार कायर काग चारों ओर
मँडलाते हुए हैं शोर करते।
दूर पर कुछ मैं खड़ा हूं
किन्तु लगता डाल पर मैं ही पड़ा हूं;
एक भीषण गरुड़ पक्षी
माँस मेरे वक्ष का चुन-चुन
निगलता जा रहा है
और कोई कुछ नहीं कह पा रहा है

अर्थ इसका मर्म इसका
जब न कुछ भी समझ पड़ता
बुद्ध को ला खड़ा करता
दृश्य ऐसा देखते होते अगर वे
सोचते क्या,
कल्पना करते न करते
चील चिड़िया के लिए
मेरे लिए भी किस तरह के
भाव उनके लिए उठते।

शुद्ध
सुस्थिर प्रश्न, बुद्ध प्रबुद्ध ने
दिन भर विभुक्षित चील को
संवेदना दी,
तृप्ति पर संतोष
उनके नेत्र से झलका,
उसी के साथ
चिड़िया के लिए संवेदना के
अश्रु ढलके
आ खड़े मेरे बगल में हुए चल के
प्राण तन मन हुए हल्के
हाथ कन्धे पर धरा,
ले गए तरु के तले,
जैसे वे चले ही पाँव मेरे चले!

नीचे तर्जनी की,
बहुत से छोटे बड़े, रंगीन,
कोमल करुण बिखरे से परों से
धरणि की धड़कन रुकी सी हृत्पटी पर,
प्रकृति की अनपढ़ी लिपि में
एक कविता सी लिखी थी।

है यह पतझड़ की शाम सखे

है यह पतझड़ की शाम सखे।
नीलम से पल्लव टूट गए
मरकत से साथी छूट गए
अटके फिर भी दो पीत पात जीवन डाली को थाम सखे।
है यह पतझड की शाम सखे।

लुक छिपकर के गाने वाली
मानव से शरमाने वाली,
कू कू कर कोयल माँग रही नूतन घूँघट अविराम सखे !
है यह पतझड़ की शाम सखे !

नंगी डाली पर नीड़ सघन
नीड़ों में है कुछ-कुछ कम्पन
मत देख नजर लग जाएगी, ये चिड़ियों के सुख धाम सखे !
है यह पतझड़ की शाम सखे !

निर्माण

नीड़ का निर्माण फिर-फिर.
नेह का आह्वान फिर-फिर !

वह उठी आँधी कि नभ में
छा गया सहसा अँधेरा,
धूलि-धूसर बादलों ने
भूमि को इस भाँति घेरा,

रात-सा दिन हो गया, फिर
रात आई और काली,

लग रहा था अब न होगा
इस निशा का फिर सवेरा,

रात के उत्पात-भय से
भीत जन-जन, भी कण-कण
किन्तु प्राची से उषा की
मोहिनी मुस्कान फिर-फिर !

नीड का निर्माण फिर-फिर,
नेह का आह्वान फिर-फिर !

वह चले झोंके कि काँपे
भीम कायावान भूधर,
जड़ समेत उखड़-पुखड़ कर
गिर पड़े, टूट विटप वर,

हाय, तिनके-से विनिर्मित
घोंसलों पर क्या न बीती,

डगमगाए जबकि कंकड़,
ईंट, पत्थर के महल-घर;

बोल आशा के विहंगम
किस जगह पर तू छिपा था,
जो गगन पर चढ़ उठाता,
गर्व से निज तान फिर-फिर !

नीड़ का निर्माण फिर-फिर,
नेह का आह्वान फिर-फिर !

क्रुद्ध नभ के वज्र दंतों
में उषा है मुसकराती,
घोर गर्जनमय गगन के
कंठ में खग पंक्ति गाती;

एक चिड़िया चोंच में तिनका
लिये जो जा रही है,

वह सहज में ही पवन
उंचास को नीचा दिखाती !

नाश के दुख से कभी
दवता नहीं निर्माण का सुख,
प्रलय की निस्तब्धता से
सृष्टि का नव गान फिर-फिर !

नीड़ का निर्माण फिर-फिर !
नेह का आह्वान फिर-फिर !

नागिन

नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तू प्रलय-काल के मेघों का कज्जल-सा कालापन ले कर,
तू नवल सृष्टि की ऊषा की नव-द्युति अपने अंगों में भर,
वडवाग्नि-विलोड़ित अम्वुधि की उत्तुंग तरंगों से गति ले,
रथ-युत रवि-शशि को वन्दी कर दृग-कोयों का रच वन्दीधर,

कौंधती तड़ित की जिह्वा-सी विष मधुमय दाँतों में दावे,
तू प्रकट हुई सहसा कैसे मेरी जगती में जीवन में ?
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तू मनोमोहिनी रम्भा-सी, तू रूपवती रति-रानी-सी,
तू मोहमयी उर्वशी-सदृश, तू मानमयी इन्द्राणी-सी,
तू दयामयी जगदम्वा-सी, तू मृत्यु-सदृश कटु क्रूर, निठुर,
तू लयंकरी कालिका-सदृश तू भयंकरी रुद्राणी-सी,

तू प्रीति, भीति, आसक्ति, घृणा की एक विषम संज्ञा बन कर,
परिवर्तित होने को आयी मेरे आगे क्षण-प्रतिक्षण में।
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में!

प्रलयंकर शंकर के सिर पर जो धूलि-धूसरित जटाजूट,
उस में कल्पों से सोयी थी पी कालकूट का एक घूँट,
सहसा समाधि कर भंग शम्भु जब तांडव में तल्लीन हुए,
निद्रालसमय, तन्द्रा-निमग्न तू धूमकेतु-सी पड़ी छूट,
अब घूम जलस्थल-अम्बर में अब घूम लोक-लोकान्तर में
तू किस को खोजा करती है, तू है किस के अन्वीक्षण में?
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में!

तू नागयोनि नागिनी नहीं, तू विश्व विमोहक वह माया,
जिस की इंगित पर युग-युग से यह निखिल विश्व नचता आया,
अपने तप के तेजोबल से दे तुझ को व्याली की काया,
धूर्जटि ने अपने जटिल जूट व्यूहों में तुझ को भरमाया,
पर मदन-कदन कर महायतन भी तुझे न सब दिन बाँध सके,
तू फिर स्वतन्त्र बन फिरती है सब के लोचन में, तन-मन में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन मे!

तू फिरती चंचल फिरकी-सी अपने फन में फुफकार लिये,
दिग्गज भी जिस से काँप उठे ऐसी भीषण हुंकार लिये,
पर पल में तेरा स्वर बदला, पल में तेरी मुद्रा बदली,
तेरा रूठा है कौन कि तू अधरों पर मृदु मनुहार लिये,
अभिनन्दन करती है उसका, अभिवादन करती है उसका,
लगती है कुछ भी देर नहीं तेरे मन परिवर्तन में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में!

प्रेयसि का जग के तापों से रक्षा करने वाला अंचल,
चंचल यौवन कल पाता है पा कर जिसकी छाया शीतल,
जीवन का अन्तिम वस्त्र कफ़न जिस को नख से शिख तक तन कर
वह सोता ऐसी निद्रा में है होता जिस के हेतु न कल,

जिसको मन तरसा करता है, जिससे मन डरपा करता है,
दोनों की झलक मुझे मिलती तेरे फन के अवगुंठन में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

जाग्रत जीवन का कम्पन है तेरे अंगों के कम्पन में,
पागल प्राणों का स्पन्दन है तेरे अंगों के स्पन्दन में,
तेरी द्रुत-दोलित काया में मतवाली घड़ियों की धड़कन,
उन्मद साँसों की सिहरन है तेरी काया की सिहरन में,
अल्हड़ यौवन करवट लेता जब तू भू पर लुंठित होती,
अलमस्त जवानी अँगड़ाती तेरे अंगों की ऐंठन में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तू उच्च महत्त्वाकांक्षी-सी नीचे से उठती ऊपर को,
निज मुकुट बना लेगी जैसे तारावलि-मंडित अम्बर को,
तू विनत प्रार्थना-सी झुक कर ऊपर से नीचे को आती,
जैसे कि किसी की पद-रज से ढकने को है अपने सिर को,
तू आशा-सी आगे बढ़ती, तू लज्जा-सी पीछे हटती
जब एक जगह टिकती लगती दृढ़ निश्चय-सी निश्चल मन में ।
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

मलयाचल से मलियानिल-सी बल खाती, पर इतराती
तू जब आती युग युग दहती शीतल हो जाती है छाती,
पर जब चलती उद्वेग भरी उत्तप्त मरुस्थल की लू-सी
चिर-सञ्चित सिंचित अन्तर के नन्दन में आग लगा जाती
शत हिम-शिखरों की शीतलता. शत ज्वालामुखियों की दहकन
दोनों आभासित होती है मुझ को तेरे आलिंगन में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन मे !

इस पुतली के अन्दर चित्रित जग के अतीत की करुण कथा,
जग के यौवन का घर्षण जग के जीवन की दुसह व्यथा,
है झूम रही उस पुतली में ऐसे सुख सपनो की झाँकी,
जो निकली है जब आशा ने दुर्गम भविष्य का गर्भ मथा,
हो क्षुब्ध-मुग्ध पल-पल क्रम से लंगर-सा हिल-हिल वर्तमान
मुख अपना देखा करता है तेरे नयनों के दर्पण में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तेरे आनन का एक नयन दिनमणि-सा दिपता उस पथ पर,
जो स्वर्गलोक को जाता है, जो चिर-संकटमय चिर-दुस्तर,
तेरे आनन का एक नेत्र दीपक-सा उस मग पर जगता
जो नरकलोक को जाता है, जो चिर सुखमामय चिर-सुखकर,

दोनों अन्दर आमन्त्रण दोनों के अन्दर आकर्षण,
खुलते-मुँदते है स्वर्ग-नरक के दर तेरी हर चितवन में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

सहसा यह नेरी भृकुटि झुकी, नभ से करुणा की वृष्टि हुई-
मृत मूर्च्छित पृथ्वी के ऊपर फिर से जीवन की सृष्टि हुई,

सहसा यह तेरी भृकुटि तनी, नभ से अंगारे बरस पड़े,
जग के आँगन में लपट उठी, स्वप्नों की दुनियाँ नष्ट हुई,

स्वेच्छाचारिणि, है निष्कारण सब तेरे मन का क्रोध, कृपा,

जग मिटता बनता रहता है तेरे भ्रू के संचालन में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

अपने प्रतिकूल गुणों की सब माया तू संग दिखाती है,
भ्रम, भय, संशय, सन्देहों से काया विजड़ित हो जाती है,

फिर एक लहर-सी आती है, फिर होश अचनाक होता है,
विश्वासमयी आशा, निष्ठा, श्रद्धा पलकों पर छाती है,
तू मार अमृत से सकती है, अमरत्व गरल से दे सकती,

मेरी गति सब सुध-बुध भूली तेरे छलनामय लक्षण में,
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन मे !

विपरीत क्रियाएँ मेरी भी अब होती हैं तेरे आगे,
पग तेरे पास चले आये जब वे तेरे भय से भागे,

मायाविनि, क्या कर देती है सीधा उल्टा हो जाता है,
जब मुक्ति चाहता था अपनी तुझसे मैंने बन्धन मागे,
अब शान्ति दुसह-सी लगती है, अब मन अशान्ति मे रमता है,

अब जलन सुहाती है उर को, अब सुख मिलता उत्पीड़न मे !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !

तूने आँखों में आँख डाल है बाँध लिया मेरे मन को,
मैं तुझे कीलने चला मगर कीला तूने मेरे तन को,
तेरी परछाईं-सा बन मैं तेरे सँग हिलता-डुलता हूं,
मैं नहीं समझता अलग-अलग अब तेरे-अपने जीवन को,
मैं तन-मन का दुर्बल प्राणी; ज्ञानी-ध्यानी भी बड़े-बढ़े
हो दास चुके तेरे; मुझे को क्या लज्जा आत्म-समर्पण में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन आँगन में !

तुझ पर न सका चल कोई भी मेरा प्रयोग मारण-मोहन,
तेरा न फिरा मन और कहीं फेंका भी मैंने उच्चाटन,
तव मन्त्र, तन्त्र, अभिचारों पर तू हुई विजयिनी निष्प्रयत्न,
उल्टा तेरे वश में आया मेरा परिचालित वशीकरण,
कर यत्न थका, तू सध न सकी मेरे गीतों से, गायन से,
कर यत्न थका, तू बँध न सकी मेरे छन्दों के बन्धन में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन मे !

सब साम दाम औ' दंड भेद तेरे आगे बेकार हुआ,
जप, तप, व्रत, संयम, साधन का असफल सारा व्यापार हुआ,
तू दूर न मुझसे भाग सकी मैं दूर न तुझ से भाग सका,
अनिवारिणि, करने को अन्तिम निश्चय ले मैं तैयार हुआ ।
अब शान्ति, अशान्ति, मरण, जीवन या इन से भी कुछ भिन्न अगर,
सब तेरे विषमय चुम्बन में, सब तेरे मधुमय दंशन में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे जीवन के आँगन में !
नर्तन कर, नर्तन कर, नागिन, मेरे प्राणों के प्रांगण में !

———

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

साँसों का हिसाब

तुम, जो जीवित कहलाने के हो आदी
तुम, जिनको दफ़ना नहीं सकी बरबादी
तुम, जिनकी धड़कन में गति का वंदन है
तुम, जिनकी कसकन में चिर संवेदन है,
तुम, जो पथ पर अरमान भरे आते हो,
तुम, जो हस्ती की मस्ती में गाते हो
तुम जिनने अपना रथ सरपट दौड़ाया
कुछ क्षण हाँफे, कुछ साँस रोककर गाया,
तुमने जितनी रासें तानी, मोड़ी हैं
तुमने जितनी सांसें खींची, छोड़ी हैं
उनका हिसाब दो और करो रखवाली
कल आने वाला है साँसों का माली
कितनी साँसों की अलकें धूल सनी हैं ?
कितनी साँसों की पलकें फूल बनी हैं ?
कितनी साँसों को सुनकर मूक हुए हो ?
कितनी साँसों को गिनना चूक गए हो ?
कितनी साँसें दुविधा के तम में रोईं ?
कितनी साँसें जमुहाई लेकर खोईं ?
जो साँसें सपनों में आबाद हुई हैं
जो साँसें सोने में बरबाद हुई हैं
जो साँसें साँसों से मिल बहुत लजाईं !
जो साँसें अपनी होकर बनी पराईं ।
जो साँसें साँसों को छूकर गरमाईं
जो साँसे सहसा बिछुड़ गई ठंडाई,

जिन साँसों को ठग लिया किसी छलिया ने
उन सबको आज सहेजो इस डलिया में
तुम इनको निरखो, परखो या अवरेखो
फिर साँस रोककर उलट-पलट कर देखो
क्या तुम इन साँसों में कुछ रह पाये हो ?
क्या तुम इन साँसों से कुछ कह पाये हो ?
क्या तुम साँसो के स्वर में वह पाये हो ?
क्या इनके बल पर सब कुछ सह पाये हो ?
इनमें कितनी, हाथों मे गह सकते हो ?
इनमे किन-किन को अपनी कह सकते हो ?
तुम चाहोगे टालना प्रश्न यह जी-भर
शायद हँस दोगे मेरे पागलपन पर ।
कवि तो अदना बातों पर भी रोता है,
पगले, साँसों का भी हिसाब होता है ?
कुछ हद तक तुम भी ठीक कह रहे लेकिन
साँसे हैं केवल नहीं हवाई स्पन्दन,
इनमे चिनगारी, नमी और कुछ धड़कन
जिससे चल पड़ता इस्पातों का स्पंदन,
यह जो विराट में उठा बवंडर-जैसा
यह जो हिमगिरी पर है प्रलयंकर-जैसा
इसके व्याघातो को क्या समझ रहे हो ?
इसके संघातों को क्या समझ रहे हो ?
यह सब साँसों की नई शोध है भाई
यह सब साँसो का मूक रोष है भाई
जब सब अदर-अदर घुटने लगती है
जब ये ज्वालाओं पर चढ़कर जगती हैं
तब होता है भूकंप शृंग हिलते हैं,
ज्वालामुखियों के वक्ष फूट पड़ते है,
पौराणिक कहते दुर्गा मचल रही है
आगन्तुक कहते दुनिया बदल रही है
यह साँसों के सम्मिलित स्वरों की बोली/
कुछ ऐसी लगती नई-नई अनमोली,
पहचान जान में समय लगा करता है)

पग-पग नूतन इतिहास जगा करता है
जन-जन का पारावार वहा करता है
जो बनता है दीवार ढहा करता है,
सागर में ऐसा ज्वार उठा करता है
तल के मोती का प्यार तुला करता है।
साँसें शीतल समीर भी, वड़वानल भी
साँसें हैं मलयानिल भी दावानल भी
इसलिए सहेजो इनको तुम चुन-चुन कर
इसलिए सँजोम्रो इनको तुम गिन-गिन कर।
अब तक गफ़लत में जो खोया, सो खोया
अब तक अबर में जो बोया, सो बोया
अब तो साँसों की फसल उगाओ भाई
अब तो साँसों के दीप जलाओ भाई।
तुमको चदा से चाव हुआ तो होगा ?
तुमको सूरज ने कभी छुआ तो होगा ?
उसकी ठडी गरमी का क्या कर डाला ?
जलनिधि का आकुल ज्वार कहाँ पर पाला ?
मरुस्थल की उड़ती वालू का लेखा दो
प्यासे अधरों की अकुलाई रेखा दो।
तुमने पी ली कितनी संध्या की लाली ?
ऊषा ने कितनी शवनम तुममें ढाली ?
मधुऋतु को तुमने क्या उपहार दिया था ?
पतझर को तुमने कितना प्यार किया था ?
क्या किसी साँस की रगड़ ज्वाला में बदली ?
क्या कभी वाष्प-सी साँस बन गई बदली ?
फिर बरसी भी तो कैसी कितनी बरसी
चातकी विचारी फिर भी कैसे तरसी ?
साँसों का फौलादी पौरुष भी देखा ?
कितनी साँसों ने की पत्थर पर रेखा ?
जितनी भी साँसें पथ के रोड़े बिनती
हर साँस-साँस को देनी होगी गिनती
तुम इनको जोड़ो बैठ कहीं एकाकी,
बेकार गई जो उनको कर दो बाकी।

शेप जो बचे उनका मीजान लगा लो,
जीवित रहने का अब अभिमान जगा लो,
मृत से जीवित का अब अनुपात बता दो,
साँसों की सार्थकता मुझे पता दो।
लज्जित क्यों होने लगा गुमान तुम्हारा ?
क्या कहता है बोलो ईमान तुम्हारा ?

तुम समझे थे तुम सचमुच ही जीते हो।
तुम खुद ही देखो भरे या कि रीते हो।
जीवन की लज्जा है तो अब भी चेतो
जो जंग लगी उसको खराद पर रेतो,
जितनी बाकी है सार्थक उन्हें बना लो
पछताओ मत आगे की रकम भुना लो।
अब काल न तुमसे बाजी पाने पाये,
अब एक साँस भी व्यर्थ न जाने पाये।

तब तक जीवन का सच्चा सम्मान रहेगा,
आने वाली पीढ़ी का ज्ञान रहेगा।

यह जिया न अपने लिए मौत से जीता
यह सदा भरा ही रहा न ढुलका, रीता।

शरद्-सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार

कौन-सी मेरी व्यथा बिखरी चतुर्दिक्
बाढ़-सा उमड़ा हृदयगत प्यार,
मेघ भादों के झमाझम झर रहे जो
शरद्-सी तुम कर रही होगी कहीं शृंगार !

लुट रहा है
छुट रहा है
रुद्ध क्षुब्ध प्रवाह
जीवन-मुक्त अंतरदाह
सुलगता आकाश धरती पुलकमाना

आज हरियाली गई पथ भूल
हत उमंगों का भला कोई ठिकाना
खो गई सरि, खो गये दो कूल,
तप्त अंतर में घुमड़ते तरलतामय प्राण
गल गये पाषाण
वर्ष-भर की वेदना सिमटी
कि लहराया अतल उन्मुक्त पारावार।
नीलनभ से स्निग्ध निर्मल केश
गूँथे जा रहे होंगे सँवार-सँवार
पिस रही मेंहदी, महावर रच रहा
तारिकावलि चन्द्रिका की हो रही होगी सहेज-सँवार
मैं प्रतीक्षा-रत
धो रहा पथ
हंसमाला मुक्त वंदनवार,
शस्य चामर चारु, श्लथ शेफालिका का हार !
आ रही होगी उड़ाती नीर अंचल
लोल लहरों का प्रशांत-प्रसार
देखने को नयन-खंजन विकल चंचल
वक्ष की धड़कन उभार-उतार।
जवा-कुसुमों में तुम्हारा आगमन आभास
सागर से बुझी कब प्यास
व्यर्थ चिंता, व्यर्थ क्रन्दन
अब रहस्य रहा न गोपन
रूप-परिवर्तन तुम्हारे अमर यौवन का सतत आधार।
एक इंगित के लिए ठहरे कुमुद वन
खिंच रहे हैं रजत स्वर्णिम रश्मियों के तार
स्निग्ध शतदल के सुवासित मधुस्तरों में
हो रहे स्वच्छन्द भ्रमरों के लिए तैयार कारागार।
आज तन-मन में लगी है होड़
देखता अनिमेष पथ का मोड़
दूर की प्रत्येक ध्वनि प्रत्येक आहट
एक छलना, अचकचाहट
पूछती फिर, फिर विकल मनुहार,

कब पकेंगे धान ?
कह रहे स्वीकार पाटल कंटकों के स्नेह का आभार
फूटने को कोरकों से गान;
कब ढलेगी दूधिया मुस्कान गंगा-तीर
जब घर-घर बनेगी खीर;
मन अथिर उद्भ्रांत
चाहता एकांत
भेंट जिससे कर सकूँ मैं उपालंभों का पुलक उपहार।

युग-सारथि गान्धी

हे अमर कृति, दृढव्रती,
शांति-समता के मुक्त उसास विकल।
दाम्भिक पशुता के खडहर में
तुम जीवन ज्योति मशाल लिये
चल रहे युगों की सीमा पर धर चरण अटल।
पदनिक्षेपो का भार वहन
किस में क्षमता सामर्थ्य शेष,
(दुर्गम वन, पर्वत-प्रान्त गहन)
गति का सयम, मन का साधन
रवि-चन्द्र निरखते निर्निमेप।
तुम अप्रतिहत चल रहे
विघ्न बाधाओं को कर चूर-चूर
अधिकार कर्म का लिये
प्राप्ति-फल-आशा से सर्वथा दूर।

मौलिक अभियान तुम्हारा यह युग के कर्मठ !
डगमग अति कोल कमठ
नप गये तुम्हारे तीन डगों में नभ-जल-थल,
नयनों में आत्मप्रकाश प्रबल
जल गया निशा का अहंकार

तम तार-तार ।
पलकें खोलीं,
खुल गये, प्रभा के स्वर्ण-कमल,
हिल गये अधर,
मच गई दानवों में हलचल,
डोली सत्ता, सिंहासन थर-थर भू-लुंठित,
चरणों पर स्वर्ण-किरीट-मुकुट ।
तुम वीतराग,
दे दिया अपर को महायज्ञ का महाभाग,
सपनों को सत्य बनाने में सोते-जगते सब समय व्यस्त
रह गये स्वयंहित रिक्तहस्त ।
हे नीलकंठ,
पी गये गरल
हिंसा, ईर्ष्या, छल, दमन, अन्ध दानवता के;
दूधिया हँसी
धो रही पाप मानवता के ।
जन-जन कण-कण की व्यथा-कथा से
पल-पल मर्माहत, जर्जर,
छलनी हो गया हाय अन्तर;
ऊमस, दावा लू-लपटों से, झुलसे प्राणी जब-तब तरसे ।
हे करुणाघन तुम कहाँ नहीं कब-कब बरसे ?
कलियाँ चटकीं, किसलय मरमर
ऊसर-उर्वर
नव-जीवन-लाली, शान्ति-सुधामय हरियाली
बरसी भू पर
युग की विभीषिका से तापित
मन की जड़ता से सन्तापित
रूखा-सूखा जन-अन्तर-पट :
तुम अक्षयवट,
शीतल छाया मे सँजो रहे
मानव-महिमा का शुक्ति-मुक्तिमय मगल-घट ।
आजानुबाहु,
कितने विकलांग अपंगों के अवलम्ब बने

कह वचन सुधा-सुख-स्नेह सने
छिगुनी पकड़े चल रहा डगमगाता युग-पथ
दो डग में सिमिट गये इति-अथ,
वर्बरता के कुत्सिक पाशविक प्रहारों में
घनघोर महाभारत की चीख-पुकारों में।
सारथी,
तुम्हारी ही लगाम का अनुशासन
उच्छृङ्खल चपल तरंगों को
शासित कर सकने में समर्थ !
देखा न सुना ऐसा अनर्थ !
पायेगा गति निश्चय ही अर्जुन-रथ।
तुम पोंछ रहे भयभीत कपोलों के आँसू
दे रहे धरा विधुरा को निर्भय अभय-दान।
हिंसा की गहन तमिस्रा में
बुझते दीपक की बाती को
फिर जिला गये दे कर अन्तर का स्नेहदान।

नंगे फकीर,
नग्नता निरीहों की ढक दी
ले ढाई गज का धवल चीर;
कितनी द्रोपदियों की लज्जा
ली भरी सभा में बचा, वीर;
दुर्मुख दुःशासन नत, अधीर।
दिशि-दिशि में आह कराह हाय
आसुरी अनाचारों से फिर जर्जर, विषण्ण युग धर्म काय,
नर में नरत्व का नहीं भाव
नासूर बन गया स्वार्थ, घृणा, कुत्सा, हिंसा का घृणित घाव,
मनु की सन्तानों के आगे
श्रद्धा माता छटपटा रही,
आहत अन्तर के टुकड़ों को
लोहू से लथपथ आँचल में
फिर बीन-बीन कर जुटा रही।
पुरखों की सञ्चित ममता पर

ओले बरसे, गिर गई गाज,
केवल तुम माता के सपूत
दे रहे दूध का मूल्य आज।
अपनत्व प्रेम का लगा दिया मरहम
क्षत-विक्षत अंगों पर,
राका के सपने बिछा दिये
सागर की क्षुब्ध तरंगों पर
चिर दग्ध, उपेक्षित जीवन में
शतदल का विजना हाथ लिये
मधु मलय-वात बन तुम डोले,
हिंसक पशुओं के घावों को
नवनीत अहिंसा की उँगली से
सहलाया हौले-हौले
गौतम की शान्त अभय-मुद्रा
मीठी मुसकानों में भर-भर
मृत को जीवित, दुर्द्धर्ष शत्रु को
मित्र बना डाला सत्वर,
गर्वोन्नत अम्बर झुका दिया
भीता धरती के चरणों पर।
वाणी में वंशी सम्मोहन
किल गया कालिया नाग,
झूमता ऐरावत
युग कर वन्दन में वशीकरण।

श्रम शील भगीरथ,
आज न होता तप-पूत तुम-सा
खो जाता जग अपनी जड़ता के सम्भ्रम-सा
मनु की सन्तान सगर-सुत-सी
सिकता मे हो जाती विलीन
जर्जर, पददलिता, दीन-हीन!
सारी संसृति बनती मसान।
घर-घर उलूक, कौवे, शृगाल,
जनपथ भयावने वियावान,

चट-चट-चट चिता सुलगती
गिरते कंकालों पर गिद्ध-श्वान,
खप्पर भर-भर योगिनी
अंतड़ियाँ पहने, करतीं रक्तपान !
तुम थे, जो स्वर्ग उतार सके पृथ्वी पर
जन-गंगा प्रवाह,
तुम थे, जो मथ-मथ सिन्धु
सुधा दे गये, पी गये
विष, वड़वानल, जलन, दाह !

मेरे दधीचि,
तुम बार-बार अस्थियाँ लुटाने को आतुर
ऐश्वर्य-मान-पद मोह छोड़
जन-जन के लिए विधुर कातर
हिल्लोलित क्षुभित महासागर में आशा के कमनीय सेतु !
तुम क्रुद्ध गरुड़ की तृप्ति हेतु
जीमूतवाहनी आत्मदान
नागों का भी कर रहे त्रास
है निशा-दिवा का एक मान
कोई अपना न पराया
मुक्तात्मा की गरिमा भासमान !
तुम मूर्त्तिमान विश्वास अमर,
युग की विराट चेतना तुम्हारे श्वास-श्वास में रही सिहर !

ऋत्विज,
कब यज्ञ-विधान तुम्हारा व्यर्थ हुआ ?
साधना तुम्हारी कब निष्फल ?
तुम जीवन की निर्मल परम्परा के वाहक
गंगा की कल-कल गति अविकल !
तुम अपने में ही पूर्ण, सिद्ध, शाश्वत सम्बल !

सृजन की चुनौती

आओ संपाती
फिर दोनों साथ-साथ उड़े
अनुभवी जटायु
गर लौटे तो लौट जाय
भुनने दो रक्त माँस
ढ़लने दो गलित स्वार्थ
और ठोस बने सूक्ष्म
और रोप बने शून्य
घने-घने बने विरल
जमे-जमे तरल तरल
अब न रहे धोखे मे
सीमा की असीम परिधि
वारिधि सी व्योम बीच
लहर उठे निस्तरंग
सूरज का द्रवित पिण्ड
पीले अगस्त्य-पुत्र
अंग-अंग हो अनंग
सृजन उड़े संग-संग ।

अज्ञेय

यह दीप अकेला

यह दीप अकेला, स्नेह-भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

यह जन है; गाता गीत जिन्हें फिर कौन गाएगा ?
पनडुब्बा; ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लाएगा ?
यह समिधा; ऐसी आग हठीला विरला सुलगाएगा।
यह अद्वितीय; यह मेरा; यह मैं स्वयं विसर्जित;
यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

यह मधु है; स्वयं काल के मौना को युग संचय
यह गोरस; जीवन कामधेनु का अमृत-पूत-पय
यह अंकुर; फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय
यह प्रकृत, स्वयम्, ब्रह्म, अयुत
इसको भी शक्ति को दे दो।
यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

यह वह विश्वास नहीं जो अपनी लघुता में भी कांपा
यह पीडा, जिसकी गहराई को स्वयं उसीने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुंधुआते कड़ुवे तम में
यह सदा द्रवित, चिर जागरूक, अनुरक्त नेत्र

उल्लम्ब वाहु यह चिर अखण्ड अनापा।
जिज्ञासु, प्रवुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको भी भक्ति को दे दो।
यह दीप अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी पंक्ति को दे दो।

टेर रहा सागर

जब जब सागर में
मछली तड़पी—
तब तब हमने उसकी गहराई को जाना।
जब–जब उल्का गिरा टूट कर
—गिरा कहां?

हमने सूने को अन्तहीन पहचाना।
जो है, वह है
रहस्य अज्ञेय यही
'है' ही है अपने आप;
जो 'होता' है, उसका होना ही
जिसे जानज हम कहते
उसकी मर्यादा, माप।

जो है, वह अन्तहीन
घेरे है उसको जिसमें
जो 'होता' है होता है
जिसमें ज्ञान हमारा
अर्थ टोहता, पाता
वल खाता, टटोलता
वढ़ता, खोता है।

अर्थ हमारा
जितना है सागर में नहीं

हमारी मछली में है
सभी दिशा में सागर जिसको घेर रहा है।
हमें उसे नहीं,
वह हमको टेर रहा है।

बना दे, चितेरे

बना दे चितेरे;
मेरे लिए एक चित्र बना दे।
पहले सागर आँक;
विस्तीर्ण प्रगाढ़ नीला,
ऊपर हलचल से भरा
पवन के थपेड़ों से आहत
शत-शत तरंगों से उद्वेलित
फेनोर्मियों से टूटा हुआ, किन्तु प्रत्येक टूटने में
अपार शोभा लिए हुए,
चंचल, उत्सृष्ट,
—जैसे जीवन।
हाँ! पहले सागर आँक:
नीचे अगाध, अथाह
असंख्य दबावों, तनावों, खींचों और मरोड़ों को
अपनी द्रव एकरूपता में समेटे हुए
असंख्य गतियों और प्रवाहों को
अपने अखण्ड स्थैर्य में समाहित किए हुए,
स्वायत्त,
अचंचल,
—जैसे जीवन......
सागर आँक कर फिर आँक एक उछली हुई मछली
ऊपर अधर में
जहाँ ऊपर भी अगाध नीलिमा है
तरंगोर्मियां हैं, हलचल और टूटन है।

द्रव है, दवाव, है,
और उसे घेरे हुए वह अविकल सूक्ष्मता है
जिसमें सब आन्दोलन स्थिर और समाहित होते हैं
ऊपर अधर में
हवा का एक बुलबुला भर पीने को
उछली हुई मछली
जिसकी मरोड़ी हुई देह-वल्ली में
उसकी जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।
जैसे तड़िल्लता में दो बादलों के बीच के
खिंचाव सब
कौंध जाते हैं—
वज्र अनजाने, अप्रसूत, असन्धीत सब
गल जाते है।

उन प्राणों का एक बुलबुला भर पी लेने को—
उस अनंत नीलिमा पर छाए रहते ही
जिसमे वह जनमी है, जियी है, पली है, जिएगी,
उस दूसरी अनंत प्रगाढ नीलिमा की ओर
विद्युल्लता की कौंध की तरह
अपनी इयत्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई
एक अकेली मछली।

वना दे, चितेरे,
यह चित्र मेरे लिए आँक दे।
मिट्टी की बनी, पानी से सिंची, प्राणाकाश की प्यासी
उस अन्तहीन उदीप्सा को
तू अन्तहीन काल के लिए फलक पर टाँक दे—
क्योंकि यह मांग मेरी, मेरी, मेरी है कि प्राणों के
एक जिस बुलबुले की ओर मैं हुआ हूं उदग्र,
वह अन्तहीन काल तक मुझे खींचता रहे :
मैं उदग्र ही वना रहूं कि
जाने कब—
वह मुझे सोख ले।

भीतर जागा दाता

मतियाया
सागर लहराया।
तरंग की पंखयुक्त वीणा पर पवन ने भर उमंग से गाया।
फेन झालरदार मखमली चादर पर मचलती
किरण अप्सराएँ भारहीन पैरों से थिरकीं—
जल पर आलते की छाप छोड़ पल-पल बदलती।
दूर धुँधला किनारा
झूम झूम आया डगमगाया किया।
मेरे भीतर जागा

दाता;
बोला;
लो, यह सागर मैंने तुम्हें दिया।
हरियाली बिछ गई तराई पर,
घाटी की पगडन्डी
लजाई और ओट हुई
पर चंचला रह न सकी, फिर उझकी और झांक गई।
छरहरे पेड की नयी रंगीली फुनगी
आकाश के भाल पर जय तिलक आँक गई।
गेहूं की हरी बालियों में से
कभी राई की उजली, कभी सरसों की पीली फूल-ज्योत्सना दिप गई,
कभी लाली पोस्ते की सहसा चौंक गई—
कभी लघु नीलिमा तीसी की चमकी और छिप गई
मेरे भीतर जागा

दाता;
और मैंने फिर नीरव संकल्प किया :
लो, यह हरी-भरी धरती—यह सवत्सा कामधेनु—मैंने तुम्हें दी :
आकाश भी तुम्हें दिया :
यह बौर, यह अंकुर, ये रंग, ये फूल, ये कोंपलें,
ये दूधिया कनी से भरी बालियाँ,
ये मैंने तुम्हें दीं :
आँकी-बाँकी रेखा यह,

मेड़ों पर छाग-छौने ये किलोलते
यह तलैया, गलियारा यह,
सारसों के जोड़े, मौन खड़े पर तोलते—
यह रूप जो केवल मैंने देखा,
यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैंने जिया;
सब तुम्हें दिया।

एक स्मृति से मन पूत हो आया।
एक श्रद्धा से आहूत प्राणों ने गाया।
एक प्यार का ज्वार दुर्निवार बढ़ आया।
मैं डूबा नहीं, उमडा-उतराया,
फिर भीतर
दाता खिल आया।
हँसा, हँसकर तुम्हें बुलाया।
लो, यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हँसी
यह आह्वल स्पर्श पूत भाव
यह मैं यह तुम, यह खिलना,
यह ज्वार यह प्लवन,
यह प्यार, यह अडूव उमड़ना—
सब तुम्हे दिया
सब
तुम्हें
दिया

सरस्वती पुत्र

मन्दिर के भीतर से सब धुले-पुँछे, उघड़े-अवलिप्त,
खुले गले से
मुखर स्वरों में
अति प्रगल्भ
गाते जाते थे रामनाम।
भीतर सब गूँगे बहरे अर्थहीन जल्पक १

निर्बोध, अयाने, नाटे
पर बाहर जितने बच्चे, उतने ही बड़बोले।

बाहर वह
खोया-पाया, मैला-उजला
दिन-दिन होता जाता वयस्क,
दिन-दिन धुँधलाती आँखों से
सुस्पष्ट देखता जाता था;
पहचान रहा था रूप,
पा रहा वाणी और बूझता शब्द
पर दिन-दिन अधिकाधिक हकलाता था,
दिन-दिन पर उसकी घिग्घी बँधती जाती थी।

कलँगी बाजरे की

हरी बिछली घास।
दोलती कलँगी छरहरी बाजरे की।
अगर मैं तुमको
ललाती साँझ के नभ की अकेली तारिका
अब नहीं कहता,
या शरद के भोर की नीहार न्हाई कुँई,
टटकी कली चम्पे की
वगैरह, तो—
नहीं कारण मेरा हृदय उथला या कि सूना है
या कि मेरा प्यार मैला है।
बल्कि केवल यही :
ये उपमान मैले हो गए हैं।
देवता इन प्रतीकों के कर गए हैं कूँच।
कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।
मगर क्या तुम
नहीं पहचान पाओगी :
तुम्हारे रूप के
तुम हो, निकट हो, इसी जादू के

निजी किस सहज गहरे, बोध से
किस प्यार से मैं कह रहा हूँ
अगर मैं यह कहूँ
बिछली घास हो तुम
लहलहाती हवा मे कलँगी छरहरी बाजरे की ?
आज हम शहरातियो का
पालतू मालच पर सँवरी जुही के फूल सा
सृष्टि के विस्तार का··· ऐश्वर्य का
औदार्य का····
कही सच्चा, कही प्यारा
एक प्रतीक
बिछली घास है
या शरद की साँझ के सूने गगन की पीठिका पर
दोलती कलँगी अकेली
बाजरे की
और सचमुच इन्हे जब-जब देखता हू
यह खुला वीरान सस्कृति का घना हो सिमट आता है
और मै एकान्त होता हू
समर्पित ।
शब्द जादू है
मगर क्या यह समर्पण कुछ नही है ?

नदी के द्वीप

[1]

हम नदी के द्वीप है ।
हम नही कहते कि हम को छोडकर स्रोतस्विनी वह जाय ।
वह हमे आकार देती है ।
हमारे कोण, गलियाँ, अन्तरीप, उभार, सैकत कूल,
सब गोलाइयां उसकी गढी है ।
माँ हे वह । है, इसी से हम बने हे ।

[2]

किन्तु हम है द्वीप ।
हम धारा नही हे ।

स्थिर समर्पण है हमारा । हम सदा से द्वीप हैं स्रोतस्विनी के ।
किन्तु हम बहते नहीं हैं । क्योंकि बहना रेत होना है ।
हम बहेंगे तो रहेंगे ही नहीं ।
पैर उखड़ेंगे । प्लवन होगा । ढहेंगे । सहेंगे । बह जायेंगे ।
और फिर हम चूर्ण होकर भी कभी क्या धार बन सकते ?
रेत बन कर हम सलिल को तनिक गँदला ही करेंगे ।
अनुपयोगी ही बनाएंगे ।

[3]

द्वीप हैं हम ।
यह नहीं है शाप । यह अपनी नियति है ।
हम नदी के पुत्र हैं । बैठे नदी के क्रोड़ में ।
वह बृहद् भूखण्ड से हमको मिलाती है ।
और वह भूखण्ड
अपना पितर है ।

[4]

नदी तुम बहती चलो ।
भूखण्ड से जो दाय हमको मिला है, मिलता रहा है ।
माँजती संस्कार देती चलो,
यदि ऐसा कभी हो
तुम्हारे आह्लाद से या दूसरों के किसी स्वैराचार से—
अतिचार से
तुम बढ़ो प्लावन तुम्हारा घरघराता उठे
यह स्रोतस्विनी ही कर्मनाशा, कीर्तिनाशा घोर
काल-प्रवाहिनी बन जाय
तो हमें स्वीकार है वह भी, उसी में रेत होकर
फिर छनेंगे हम । जमेंगे हम । कहीं फिर पैर टेकेंगे ।
कहीं फिर खड़ा होगा नए व्यक्तित्व का आकार ।
माता । उसे फिर संस्कार तुम देना ।

शमशेर बहादुर सिंह

लौट आ, ओ धार

लौट आ ओ धार
टूट मत ओ साँझ के पत्थर
हृदय पर
(मैं समय की एक लम्बी आह
मौन लम्बी आह)
लौट आ, ओ फूल की पँखड़ी
फिर
फूल में लग जा
चूमता है धूल का फूल
कोई, हाय।

सागर-तट

यह समंदर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का—
अति कठोर पहाड़।
पी गया हूँ दृश्य वर्षा का
हर्ष बादल का
हृदय में भरकर हुआ हूँ हवा सा हल्का।
धुन रही थी सर
व्यर्थ व्याकुल मत्त लहरें
वहीं आ-आकर

जहाँ था मैं खड़ा
मौन
समय के आघात से पोली खड़ी दीवारें
जिस तरह घहरें
एक के बाद एक सहसा ।
चाँदनी की उँगलियाँ चंचल
क्रोशिए से बुन रही थीं चपल
फेन झालर बेल, मानो ।
पंक्तियों में टूटती गिरतीं
चाँदनी में लौटती लहरें
मछलियों सी बिछल पड़ती तड़पती लहरें
बार–बार ।
स्वप्न में रौंदी हुई सी विकल सिकता
पुतलियों सी मूँद लेती
आँख ।

यह समंदर की पछाड़
तोड़ती है हाड़ तट का
अति कठोर पहाड़ ।
यह समंदर की पछाड़

शिला का खून पीती थी

शिला का खून पीती थी
वह जड़
जो कि पत्थर थी स्वयं ।
सीढ़ियाँ थीं बादलों की झूलती
टहनियों सी ।
और वह पक्का चबूतरा
ढाल में चिकना
सुतल था
आत्मा के कल्प तरु का ?

टूटी हुई, बिखरी हुई

टूटी हुई बिखरी हुई चाय
की दली हुई पाँव के नीचे
पत्तियाँ
मेरी कविता
बाल, झड़े हुए, मैल से रूखे, गिरे हुए, गर्दन से फिर भी
चिपके
....कुछ ऐसी मेरी खाल
मुझसे अलग सी मिट्टी में
मिली सी
दोपहर बाद की धूप छाँह में खड़ी इन्तजार की ठेलेगाड़ियाँ
जैसे मेरी पसलियाँ ..
खाली बोरे सूजों से रफू किए जा रहे हैं....जो
मेरी आँखों का सूनापन हैं।

ठंड भी एक मुस्कराहट लिए हुए है
जो कि मेरी दोस्त है।

कबूतरों ने एक गजल गुनगुनाई...
मैं समझ न सका, रदीफ़-काफिए क्या थे
इतना खफीफ़, इतना हलका, इतना मीठा
उनका दर्द था।

आसमान में गंगा की रेत आइने की तरह हिल रही है।
मैं उसी मे कीचड़ की तरह सो रहा हूँ
और चमक रहा हूँ कहीं
न जाने कहाँ।

मेरी बाँसुरी एक नाव की पतवार—
जिसके स्वर गीले हो गए हैं,
छप्-छप्-छप् मेरा हृदय कर रहा है...
छप्-छप्-छप्।

वह पैदा हुआ है जो मेरी मृत्यु को सँवारने वाला है।
वह दूकान मैंने खोली है, जहाँ प्वाइजन का लेबुल लिए हुए
दवाइयाँ हँसती हैं—
उनके इंजेक्शन की चिकोटियों मे बड़ा प्रेम है।

वह मुझ पर हँस रही है, जो मेरे होठों पर एक तलुए
के बल खड़ी है
मगर उसके बाल मेरी पीठ के नीचे दबे हुए हैं
और मेरी पीठ को समय के बारीक तारों की तरह
खुरच रहे हैं
उसके एक चुम्बन की स्पष्ट परछाईं मुहर बनकर उसके
तलुओं के ठप्पों से मेरे मुँह को कुचल चुकी है
उसका सीना मुझको पीसकर बराबर कर चुका है।

मुझको प्यास के पहाड़ों पर लिटा दो जहाँ मैं
एक झरने की तरह तड़प रहा हूँ।
मुझको सूरज की किरनों में जलने दो—
ताकि उसकी आँच और लपट में तुम
फौवारे की तरह नाचो।

मुझको जंगली फूलों की तरह ओस से टपकने दो,
ताकि उसकी दबी हुई खुशबू से अपने पलकों की
उनींदी जलन को तुम भिगो सको मुमकिन है तो।
हाँ! तुम मुझसे बोलो, जैसे मेरे दरवाजे की शर्माती चूलें
सवाल करती हैं, बार-बार ...मेरे दिल के
अनगिनती कमरों से।

हाँ! तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं
जिनमें वह फँसने नहीं आतीं
जैसे हवाएँ मेरे सीने से करती हैं
जिसको वह गहराई तक दबा नहीं पाती
तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे करता हूँ।

आइनो, रोशनी में घुल जाओ और आसमान में
मुझे लिखो और मुझे पढ़ो।
आइनो मुस्कराओ और मुझे मार डालो।
आइनो मैं तुम्हारी जिन्दगी हूँ।

एक फूल उषा की खिलखिलाहट पहनकर
रात का गड़ता हुआ काला कम्बल उतारता हुआ
मुझसे लिपट गया है।

उसमें काँटे नहीं थे—सिर्फ एक बहुत
काली, बहुत लम्बी जुल्फ थी जो जमीन तक
साया किए हुए थी… जहाँ मेरे पाँव
खो गए थे।

वह गुल मोतियों को चबाता हुआ सितारों को
अपनी कनखियों में घुलाता हुआ मुझ पर
एक जिन्दा इत्र पाश बनकर बरस पड़ा—

और तब मैंने देखा कि मैं सिर्फ एक साँस हूँ जो उसकी
बूँदों में बस गई है।
जो तुम्हारे सीनों में फाँस की तरह खाब में
अटकती होगी, बुरी तरह खटकती होगी।

मैं उसको पाँवों पर कोई सिजदा न बन सका
क्योंकि मेरे झुकते न झुकते
उसके पाँवों की दिशा मेरी आँखों को लेकर
खो गई थी।

अब तुम मुझे मिले, एक खुला फटा हुआ लिफाफा
तुम्हारे हाथ आया।
बहुत उसे उलटा-पलटा उसमें कुछ न था—
तुमने उसे फेंक दिया : तभी जाकर मैं नीचे
पड़ा हुआ तुम्हें "मैं" लगा। तुम उसे
उठाने के लिए झुके भी, फिर कुछ सोचकर
मुझे वहीं छोड़ दिया। मैं तुमसे
यों ही मिल लिया था।

मेरी याददाश्त को तुमने गुनाहगार बनाया—और उसका
सूद बहुत बढ़ाकर मुझसे वसूल किया। और तब
मैंने कहा—अगले जनम में। मैं इस
तरह मुस्कराया जैसे शाम के पानी में
डूबते पहाड़ गमगीन मुस्कराते हैं।

मेरी कविता को तुमने खूब दाद दी—मैंने समझा
मैंने समझा तुम अपनी ही बातें सुना रहे हो। तुमने मेरी
कविता की खूब दाद दी।

तुमने मुझे जिस रंग में लपेटा, मैं लिपट गया
और जब लपेट न खुले—तुमने मुझे जला दिया।
मुझे, जलते हुए को भी तुम देखते रहे : और वह
मुझे अच्छा लगता रहा।

एक खुशबू जो मेरी पलकों में इशारों की तरह
बस गई है, जैसे तुम्हारे नाम की नन्हीं सी
स्पेलिंग हो, छोटी सी प्यारी सी तिरछी स्पेलिंग

आह ! तुम्हारे दाँतों से दूब के तिनके की नोंक
उस पिकनिक में चिपकी रह गई थी
आज तक मेरी नींद में गड़ती है।

अगर मुझे किसी से ईर्ष्या होती तो मैं
दूसरा जन्म बार-बार हर घण्टे लेता जाता
पर मैं तो जैसे इसी शरीर से अमर हूँ—
तुम्हारी बरकत !

बहुत से तीर बहुत सी नावें, बहुत से पर इधर
उड़ते हुए आए, घूमते हुए गुजर गए
मुझको लिए, सबके सब। तुमने समझा
कि उनमें तुम थे। नहीं, नहीं, नहीं।
उनमें कोई न था। सिर्फ बीती हुई
अनहोनी और होनी की उदास
रंगीनियाँ थीं। फ़क़त।

उषा

प्रातः नभ था बहुत नीला शंख जैसे
भोर का नभ

राख से लीपा हुआ चौका
(अभी गीला पड़ा है)

बहुत काली सिल जरा से लाल केसर से
कि जैसे धुल गई हो

स्लेट पर या लाल खड़िया चाक
मल दी हो किसी ने
नील जल में या किसी की
गौर झिलमिल देह
जैसे हिल रही हो ।
और····
जादू टूटता है इस उषा का अब
सूर्योदय हो रहा है ।

एक पीली शाम

एक पीली शाम
पतझर का जरा अटका हुआ पत्ता
शान्त
मेरी भावनाओं में तुम्हारा मुख कमल
कृश म्लान हारा सा
(कि मैं हूँ वह
मौन दर्पण में तुम्हारे कहीं ?)
वासना डूबी
शिथिल पल में
स्नेह काजल में
लिए अद्भुत रूप कोमलता
अब गिरा अब गिरा वह अटका हुआ आँसू
सान्ध्य तारक सा
अतल में ।

घिर गया है समय का रथ

मौन संध्या का दिए टीका
रात काली
आ गई

सामने ऊपर उठाए हाथ सा
पथ चढ़ गया ।

घेरने को दुर्ग की दीवार मानों—
अचल विंध्या पर
कुंडली खोली सिहरती चाँदनी ने
पचमी की रात ।

घूमता उत्तर दिशा को सघन पथ
संकेत मे कुछ कह गया ।

चमकते तारे लजाते है
प्रेरणा का दुर्ग ।
पार पश्चिम के, क्षितिज के पार
अमित गगाएँ बहाकर भी
प्राण का नभ धूल-धूसित है ।

भेद उषा ने दिए सब खोल
हृदय के कुल भाव
रात्रि के अनमोल
दुख कढ़ता सजल, झलमल ।

आँख मलता पूर्व-स्रोत ।
पुनः
पुनः जगती जोत ।
....

घिर गया है समय का रथ कही
लालिमा मे मँढ़ गया है राग ।

भावना की तुंग लहरे
पथ अपना : अन्त अपना जान
रोलती है मुक्ति के उद्‌गार ।

गजानन माधव 'मुक्तिबोध'

दूर तारा

तीव्र-गति
अति दूर तारा
वह हमारा
शून्य के विस्तार नीले में चला है।
और नीचे लोग
उसको देखते हैं, नापते है गति, उदय औ अस्त का
इतिहास।

किन्तु उनकी दीर्घ दूरी,
शून्य के उस कुछ-न- होने से बना जो नील का आकाश,
वह एक उत्तर
दूरबीनों की सतत आलोचनाओं को,
नयन-आवर्त्त के सीमित निदर्शन या कि दर्शन यत्न को।
वे नापने वाले लिखें उन के उदय औ' अस्त की गाथा,
सदा ही ग्रहण का विवरण।
किन्तु यह तो चला जाता
व्योम का राही,
भले ही दृष्टि के बाहर रहे—उसका विषय ही
बना जाता।

और जाने क्यों,
मुझे लगता है कि ऐसा ही अकेला नील तारा,
तीव्र-गति,
जो शून्य में निस्संग,
जिस का पथ विराट्—
वह छिपा प्रत्येक उर में,

प्रति हृदय के कल्मषों के बाद
जैसे बादलों के बाद भी है शून्य नीलाकाश ।
उस में भागता है एक तारा,
जो कि अपने ही प्रगति-पथ का सहारा,
जो कि अपना ही स्वयं बन चला चित्र,
भीति हीन विराट्-पुत्र ।
इसलिए प्रत्येक मनु के पुत्र पर विश्वास करना चाहता हूँ ।

एक आत्म-वक्तव्य

··· और, जब
मेरा सिर दुखने लगता है,
धुँधले-धुँधले अकेले में, आलोचना-शील
अपने में से उठे धुएँ की चक्करदार
सीढ़ियों पर चढ़ने लगता हूँ ।

और हर सीढी पर लुढ़की पडी एक-एक देह,
आलोचन-हत मेरे पुराने व्यक्तित्व,
भूतपूर्व, भुगते हुए, अनगिनत 'मैं' ।
उनके शवों, अर्ध-शवों पर ही रख कर
निज सर्व-स्पृश पैर,
मेरे साथ चलने लगता भावी-कर-बद्ध
मेरा वर्तमान ।

किन्तु, पुनः-पुनः,
उन्हीं सीढ़ियों पर नये-नये आलोचक-नेत्र
(तेज नाक वाले तमतमाये-से मित्र)
खूब काट-छाँट और गहरी छील-छाल,
रन्दों और बसूलों मे मेरी देख-भाल,
मेरा अभिनव संशोधन अविरत
क्रमागत ।

अभी तक
सिर में जो तड़फता रहा ब्रह्माण्ड,
लड़खड़ाती दुनिया का भूरा मान-चित्र
चमकता है दर्द-भरे अँधेरे में वह
क्रमागत काण्ड ।

उसमें नये-नये सवालों की झखमार;
थके हुए, गिरते-पड़ते, बढ़ने का दौर;
मार-काट करती हुई सदियों की चीख;
मुठभेड़ करते हुए स्वार्थों के बीच
भोले-भाले लोगों के माथे पर घाव
कुचले गये इरादों के बाकी बचे धड़
अधकटे पैरों ही से लात मार कर
अपने जैसे दूसरों के लिए
सब करते है दरवाजे बन्द—
उलटे दिल-दिमागों में गस्से की धुन्ध ।
अँधियाली गलियों मे घूमता है,
तड़के ही रोज
कोई मौत का पठान
माँगता है जिन्दगी जीने का ब्याज;
अनजाना कर्ज
माँगता है चुकारे में, प्राणों का मांस ।

हताहत स्वयं की ही दर्दीली रात—
जोड़-तोड़ करती हुई गहरी कांट-छांट;
रोज नयी आफ़त, कोई नयी वारदात ।
पूरे नहीं हो सकते मानवीय योग,
हर-एक के पास अपने-अपने गुप्त रोग ।
(परेशान चिन्तकों की दार्शनिक झौंख)
उजली-उजली सफेदी में
कोखों की शर्म;
(अधबने समाधानों)
भ्रूणों का, अँधेरे में, क्रमागत जन्म;
सृजन—मात्र उद्गार-धर्म ।

सत्ताग्रही, अर्थाकांक्षी
शक्ति के कृत्य,
और मेरे प्राणों में
सत्यों के भयानक
केवल व्यंग्य-नृत्य,
व्यंग्य नृत्य !!

उसी विश्व-यात्रा में, चट्टानों बीच
किसी झुकी सँवलायी साँझ
मुझे मिला
(हृदय-प्रकाश-सा) अकेले में
बिजली से जगमाता घर
जिसके इर्द-गिर्द
कुछ अँधियासे पेड़
मानो सधे हुए, घने
बहुत धने, बड़े-बड़े दर्द
अचानक घर में से निकल आया एक
चौड़े माथे वाला, भोला, प्रतिभा का पुत्र
दुबला बल-मुख
पहचान मुझे, और हँस चुप-चाप,
मेरे खाली हाथों मे रख गया
दीप्तिमान रत्न—
भयानक वीरानी में घूम कर
खोजा था जो सार-सत्य
आत्म-धन
छटपटाती किरनों का पारदर्शी क्वार्ट्ज,
किरनें की आलोचनाशील, धारदार
उपादान
जिनकी तेज नोकों से अकस्मात्
मेरी काट-छाँट, छील-छाल
लगातार ।
इसीलिए, मेरी मूर्ति
अनबनी प्रधबनी अभी तक....

जिसे लिये कहाँ जाऊ, सदा ही का प्रश्न
अपने इस अधवने-पने का गरीब
यह दृश्य
पा न जाय, सभाओ मे, कही तिरस्कार,
अर्थहीन समर्थो के द्वारा कही वह
फिकाला न जाय।
इसीलिए, मुझे प्रिय अपना अन्धकार,
गठरी मे छिपा रखा निजी रेडियम,
सिर पर, टोकरी मे
छिपाया है मैने कोई यीशु,
अपना कोई शिशु।
परन्तु, मै किसी पेड पीछे-से झाँक
लाख-ताख आँखो से देखता हूँ दृश्य,
पूरे बने हुओ ही के ठाठदार अक्स,
ऐसा कुछ ठाठ—
मुझे गहरी उचाट,
लगता ह वे मेरे राष्ट्र के नही हे।
उचटता हो रहता है दिल,
नही ठहरता कही,
जरा भी।
यह मेरी बुनियादी खराबी।
और, अब नये-नये मेरे मित्र-गण,
मेरे पीछे आए हुए युवा-बाल-जन,
धरित्री के धन,
खोजता हूँ उनमे ही
छटपटाती हुई मेरी छाँह,
क्या कही वहाँ मेरा रूपक-उपमान,
छिपी हुई कही कोई गहरी पहचान,
समशील, समधर्मा कही कोई है ?
अच्छा है कि अटाले मे फेका गया मे
एक प्रेम-पत्र,
किताबो डाल, बन्द कर दी गयी अक्ल,

काली-काली गलियों में
फिरती हुई आदमी की शक्ल,
अच्छा है कि अँधेरे मे इलाका-वदर
मै हूँ जवाबी गदर,
जिससे कि और ज्यादा तैयारियाँ कर
आज नहीं कल फूट पड़ूँगा जरूर,
जरूर !

असख्यक इत्यादि-जनों का मैं भाग
इसीलिए, अनदिखे,
सुलगता धीरे-से आग,
जिसके प्रकाश मे तँवियाये चेहरों पर आप
सवेदित ज्ञान की काँपती ही
उठती है भाप चुप-चाप....
सच्चा है जहाँ असन्तोष,
मेरा वहाँ परिपोष,
वहाँ दिवालो पर टँगते है भिन्न मान-चित्र,
चिनगियाँ वरसाते
लगातार विचारो के सत्र,
मेरे पात्र-चरित्रो की
आँखों की अंगारी ज्योति
ललक कर पढ़ती है मेरा प्रेम-पत्र
काँपता है वर्ग-मूल-अर्थ-भरा
त्रैराशिकी कोइ स्मित स्निग्ध ।

यथार्थो से चला हुआ
स्वर्गो तक पहुंचता है,
गणितो का किरणीला सेतु,
पृथ्वी के हेतु ।
लेकिन, हाँ, उसी के लिए दिन-रात
नये-नये रन्दों और वसूलो से
लगातार लगातार
मेरी काट छाँट
उनकी छील-छाल अनिवार ।

ऐसी उन भयानक क्रियाओं में रम
कटे-पिटे चेहरों के दाग़दार हम
बनाते हैं अपना कोई अलग दिक्-काल,
पृथक आत्म-देश—
दृष्टि, आवेश !
क्षमा करें, अन्य-मति
अन्य-मुख मेरे परिजन !!

ब्रह्मराक्षस

शहर के उस ओर खंडहर की तरफ़
परित्यक्त सूनी बावड़ी
के भीतरी
ठण्डे अँधेरे में
बसी गहराइयाँ जल की
सीढ़ियाँ डूबीं अनेकों
उस पुराने घिरे पानी में
समझ में आ न सकता हो
कि जैसे बात का आधार
लेकिन बात गहरी हो
बावड़ी को घेर
डालें खूब उलझी हैं
खड़े हैं मौन औदुम्बर
व शाखों पर
लटकते घुग्घुओं के घोंसले
परित्यक्त, भूरे गोल ।
विगत शत पुण्य का आभास
जंगली हरी कच्ची गन्ध में बस कर
हवा में तैर
बनता है गहन सन्देह

अनजानी किसी बीती हुई उस श्रेष्ठता का जो कि
दिल में एक खटके-सी लगी रहती।
बावड़ी की इन मुँडेरों पर
मनोहर हरी कुहनी टेक
बैठी है टगर
वे पुष्प-तारे-श्वेत
उसके पास
लाल फूलों का लहकता झौर
मेरी वह कन्हेर
वह बुलाती एक खतरे की तरफ जिस ओर
अँधियारा खुला, मुँह बावड़ी का
शून्य अम्बर ताकता है।
बावड़ी की उन घनी गहराइयों में शून्य
ब्रह्मराक्षक एक पैठा है
व भीतर से उमड़ती गूँज की भी गूँज
बड़बड़ाहत शब्द पागल से।
गगन अनुमानिता
तन की मलिनता
दूर करने के लिए प्रतिपल
पाप छाया दूर करने के लिए. दिन-रात
ब्रह्मराक्षस
घिस रहा है देह
हाथ के पंजे, बराबर
बाँह-छाती-मुँह छपाछप
खूब करते साफ
फिर भी मैल
फिर भी मैल!!
और... ओठों से
अनोखा-स्तोत्र, कोई क्रुद्ध मन्त्रोच्चार
अथवा शुद्ध संस्कृत गालियों का ज्वार
मस्तक की लकीरें
बुन रहीं

आलोचनाओं के चमकते तार !!
उस अखण्ड स्नान का पागल प्रवाह
प्राण में संवेदना है स्याह !!
किन्तु, गहरी बावड़ी
की भीतरी दीवार पर
तिरछी गिरी रवि-रश्मि
के उड़ते हुए परमाणु, जब
तब तक पहुँचते हैं कभी
तब ब्रह्मराक्षस समझता है, सूर्य ने
झुक कर 'नमस्ते' कर दिया
पथ भूलकर जब चाँदनी
की किरन टकराये
कहीं दीवार पर
तब ब्रह्मराक्षस समझता है
वन्दना की चाँदनी ने
ज्ञान-गुरु माना उसे
अति-प्रफुल्लित कण्टकित तन-मन वही
करता रहा अनुभव कि नभ ने भी
विनत हो मान ली है श्रेष्ठता उसकी !!
और, तब दुगने भयानक ओज से
पहचान वाला मन
सुमेरी-बैबिलोनी जन कथाओं से
मधुर वैदिक ऋचाओं तक
व तब से आज तक के सूत्र
छन्दस्, मन्त्र, थियोरम
सब प्रमेयों तक
कि मार्क्स, एंजेल्स, रसेल, टॉयनबी
कि हीडेग्गर व स्पेंग्लर, सार्त्र, गान्धी भी
सभी के सिद्ध-अन्तों का
नया व्याख्यान करता वह
नहाता ब्रह्मराक्षस, श्याम
प्राक्तन बावड़ी की
उन घनी गहराइयों मे शून्य ।

की दृष्टि के कृत
भव्य नैतिक मान
आत्मचेतन सूक्ष्म नैतिक मान
अतिरेकवादी पूर्णता की तुष्टि करना
कब रहा आसान
भावी अन्तर्कथाएँ बहुत प्यारी हैं !!
रवि निकलता
लाल चिन्ता की रुधिर-सरिता
प्रवाहित कर दीवारों पर
उदित होता चन्द्र
व्रण पर बांध देता
श्वेत-धौली पट्टियाँ
उद्विग्न भालों पर
सितारे आसमानी छोर पर फैले हुए
अनगिन-दशमलव-से
दशमलव-बिन्दुओं के सर्वतः
पसरे हुए उलझे गणित मैदान में
मारा गया, वह काम आया
और वह पसरा पड़ा है
वक्ष-बाँहें खुलीं फैलीं
एक शोधक की।
व्यक्तित्व वह कोमल स्फटिक-प्रासाद-सा
प्रासाद में जीना
व जीने की अकेली सीढ़ियाँ
चढ़ना बहुत मुश्किल रहा
वे भाव-संगद तर्क-संगत
कार्य-सामंजस्य-योजित
समीकरणों के गणित की सीढ़ियाँ
हम छोड़ दें उसके लिए।
उस भाव-तर्क-व-कार्य-सामंजस्य-योजन—
शोध में
सब पण्डितों, सब चिन्तकों के पास
वह गुरु प्राप्त करने के लिए
भटका !!
किन्तु युग बदला व आया कीर्ति-व्यवसायी
लाभकारी कार्य में से धन

व धन में से हृदय-मन
और, धन-अभिभूत अन्त.करण में से
सत्य की झाँई
निरन्तर चिलचिलाती थी।
आत्मचेतस् किन्तु इस
व्यक्तित्व में थी प्राणमय अनबन
विश्वचेतस् बे-बनाव!!
महत्ता के चरण में था
विषादाकुल मन।
मेरा उसी से उन दिनों होता मिलन यदि
तो व्यथा उसकी स्वयं जी कर
बताता मैं उसे उसका स्वयं का मूल्य
उसकी महत्ता।
व उस महत्ता का
हम-सरीखों के लिए उपयोग
उस आन्तरिकता का बताता मैं महत्व!!
पिस गया वह भीतरी
औ बाहरी दो कठिन पाटों बीच
ऐसी ट्रैजिडी है नीच!!
बावड़ी में वह स्वयं
पागल प्रतीकों मे निरन्तर कह रहा
वह कोठरी मे किस तरह
अपना गणित करता रहा
औ मर गया
वह सघन झाड़ी के कँटीले
तम-विवर में
मरे पक्षी-सा
विदा ही हो गया
वह ज्योति अनजानी सदा को सो गयी
यह क्यों हुआ।
क्यों यह हुआ!!
मैं ब्रह्मराक्षस का सजल-उर-शिष्य
होना चाहता
जिससे कि उसका वह अधूरा कार्य
उसकी वेदना का स्रोत
संगत, पूर्ण निष्कर्षों तलक
पहुँचा सकूँ।

नागार्जुन

कालिदास के प्रति

कालिदास सच सच बतलाना
इन्दुमती के मृत्यु शोक से
अज रोया या तुम रोए थे
कालिदास सच सच बतलाना।

शिवजी की तीसरी आँख से
निकली हुई महाज्वाला में
घृतमिश्रित सूखी समिधा सम
कामदेव जब भस्म हो गया
तुमने ही तो दृग धोए थे।

कालिदास सच सच बतलाना
रति रोई या तुम रोए थे।

वर्षा ऋतु की स्निग्ध भूमिका
प्रथम दिवस आषाढ़ मास का
देख गगन में श्याम घन घटा
विधुर यक्ष का मन जब उचटा
चित्रकूट के सुभग शिखर पर
खड़े खड़े तब हाथ जोड़ कर
उस बेचारे ने भेजा था
जिनके ही द्वारा संदेशा
उन पुष्करावर्त मेघों का
साथी बनकर उड़नेवाले—

कालिदास, सच-सच बतलाना ?
पर-पीडा से पूर-पूर हो
थक-थक कर औ' चूर-चूर हो
अमल-धवलगिरि के शिखिरो पर
प्रियवर तुम कब तक सोए थे ?
कालिदास सच-सच बतलाना।
रोया यक्ष कि तुम रोए थे ?

वे और तुम

वे लोहा पीट रहे हैं
तुम मन को पीट रहे हो !
वे पत्तर जोड़ रहे है,
तुम सपने जोड़ रहे हो !
उनकी घुठन ठहाकों मे घुलती है।
और तुम्हारी घुटन ?
उनीदी घड़ियो मे चुरती है।
वे हुलसित है,
अपनी ही फसलों में डूब गये है····
तुम हुलसित हो,
चितकबरी चाँदनियों मे खोये हो !
उनको दुख है,
तरुण आम की मंजरियों को पाला मार गया है···
तुमको दुख है;
काव्य-सकलन दीमक चाट गये है !!

बादल को घिरते देखा है

अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है।

छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को,
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

तुङ्ग हिमालय के कन्धों पर
छोटी-बड़ी कई झीलें हैं,
उनके श्यामल नील सलिल में
समतल देशों से आ-आ कर

पावस की ऊमस से आकुल
तिक्त-मधुर विस तंतु खोजते
हंसों को तिरते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

ऋतु वसन्त का सुप्रभात था
मंद-मंद था अनिल वह रहा
बालारुण की मृदु किरणें थीं
अलग-बगल स्वर्णाभ शिखर थे
एक दुसरे से विरहित हो
अलग-अलग रहकर ही जिनको
सारी रात बितानी होती,
निशा काल से चिर-अभिशापित
बेवस उन चकवा-चकई का
बन्द हुआ क्रन्दन फिर उनमे
उस महान सरवर के तीरे
शैवालों की हरी दरी पर
प्रणय-कलह छिड़ते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

दुर्गम बर्फानी घाटी में
शत सहस्र फुट ऊँचाई पर
अलख नाभि से उठने वाले
निज के ही उन्मादक परिमल—

के पीछे धावित हो हो कर
तरल तरुण कस्तूरी मृग को
अपने पर चिढते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

कहाँ गया धनपति कुबेर वह
कहाँ गयी उसकी वह अलका
नही ठिकाना कालिदास के
व्योम-प्रवाही गंगाजल का
ढूढा बहुत परन्तु लगा क्या
मेघदूत का पता कही पर,
कौन बताए वह छायामय
बरस पड़ा होगा न यहीं पर,
जाने दो, वह कवि कल्पित था
मैंने तो भीषण जाडो मे
नभ-चुम्बी कैलाश शीर्ष पर,
महामेघ को झझानिल मे
गरज-गरज भिडते देखा है।
बादल को घिरते देखा है।

शत-शत निर्झर-निर्झरिणी कल
मुखरित देवदारु कानन मे
शोणित-धवल भोज पत्रो से
छाई हुई कुटी के भीतर
रंग-बिरंगे और सुगन्धित
फूलो के कुन्तल को साजे,
इन्द्रनील की माला डाले
शख-सरीखे सुघड़ गलो मे,
कानो मे कुवलय लटकाए,
शतदल लाल कमल वेणी मे,
रजत-रचित मणिखचित कलामय
पान पात्र द्राक्षासव पूरित
रखे सामने अपने-अपने

लोहित चन्दन की त्रिपदी पर,
नरम निदाग बाल-कस्तूरी
मृगछालों पर पलथी मारे
मदिरारुण आँखों वाले उन
उन्मद किन्नर-किन्नरियों की
मृदुल मनोरम अंगुलियों को
वंशी पर फिरते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।

प्रेत का बयान

'ओ रे प्रेत—
कड़क कर बोले नरक के मालिक यमराज
"सच-सच बतला !
कैसे मरा तू ?
भूख से, अकाल से ?
बुखार कालाजार से ?
पेचिश, बदहजमी, प्लेग, महामारी से ?
कैसे मरा तू, सच-सच बतला !"
खड़ खड़ खड़ खड़ हड़ हड़ हड़ हड़
काँपा कुछ हाड़ों का मानवीय ढाँचा
नचा कर लम्बी चमचों-सा पंचगुरा हाथ
रूखी पतली किठ-किट आवाज में
प्रेत ने जवाब दिया—
"महाराज !
सच-सच कहूंगा
झूठ नहीं बोलूँगा
अब हम गुलाम नहीं
नागरिक हैं हम स्वाधीन भारत के
पूर्णिया जिला है सूबा बिहार सिवान पर
थाना धमदाहा

बस्ती रूपउली
जात का कायथ
उमर कुछ अधिक पचपन साल की
पेशा से प्रायमरी स्कूल का मास्टर था
तनखा थी तीस रुपैया, सो भी नहीं मिली
मुश्किल से काटे हैं
एक नहीं दो नहीं नौ-नौ महीने
घरनी थी, माँ थी, बच्चे थे चार
आ चुके हैं वे भी दया सागर, करुण के अवतार !
आप ही की छाया में
मैं ही बाकी
क्योंकि करमों की पत्तियाँ अभी कुछ शेष थीं
हमारे अपने पुस्तैनी पोखर में
मनोबल शेष था सूखे शरीर में....''
''अरे वाह....''
भभाकर हँस पड़ा नरक का राजा
दमक उठीं झालरें कम्पायमान सिर से मुकुट की
फर्श पर ठोककर सुनहला लौह दंड
अविश्वास की हँसी हँसी दंडपाणि महाकाल
''बड़े अच्छे मास्टर हो !
आए हो मुझको भी पढ़ाने !!
मैं भी बच्चा हूँ....
वाह भई, वाह !
तो तुम भूख से नहीं मरे ?''
हद से ज्यादा डालकर जोर
होकर कठोर
प्रेत फिर बोला—
''अचरज की बात है
यकीन नहीं करते आप क्यों मेरा
कीजिए न कीजिए न आप चाहे विश्वास
साक्षी है धरती, साक्षी है आकाश
और और और और और भले
नाना प्रकार की व्याधियाँ हों भारत मे

किन्तु—"
उठाकर दोनो बाँह
किट किट करने लगा प्रेत
"किन्तु
भूख या क्षुधा नाम हो जिसका
ऐसी किसी व्याधि का पता नही हमको
सावधान महाराज,
नाम नही लीजिएगा हमारे समक्ष फिर कभी भूख का !!"
निकल गया भाप आवेश का
तदन्तर शांत-स्मित स्वर मे प्रेत बोला—
"जहाँ तक मेरा अपना सम्बन्ध है
सुनिए महाराज,
तनिक भी पीर नही
दुख नही दुविधा नही,
सरलतापूर्वक निकले थे प्राण
सह न सकी आँत जब पेचिश का हमला
सुनकर दहाड़
स्वाधीन भारत के
भुखमरे, स्वाभिमानी, सुशिक्षक प्रेत
रह गये निरुत्तर
महामहिम नरकेश्वर'।

बहुत दिनों के बाद

बहुत दिनो के बाद
अब की मैंने जी-भर देखा
पकी-सुनहली फसलो की मुसकान
बहुत दिनो के बाद

अब की मैं जी-भर सुन पाया
धान कूटती किशोरियो की कोकिल कंठी तान
बहुत दिनो के बाद।

असिद्ध की व्यथा

नदियाँ, दो-दो अपार
बहतीं विपरीत छोर
कब तक मैं दोनों धाराओं में साथ बहूँ
ओ मेरे सूत्रधार !

नौकाएँ दो भारी
अलग दिशाओं जाती
कब तक मैं दोनों को एक साथ खेता रहूँ—
एक देह की पतवार—

दो-दो दरवाजे हैं
अलग-अलग क्षितिजों में
कब तक मैं दोनों की देहरियाँ लाँघा करूँ
ओ असिद्ध,
        एक साथ

छोटी-सी मेरी कथा
छोटा-सा घटना-क्रम
हवा के भँवर-सा पलव्यापी यह इतिहास
टूटे हुए असम्बद्ध टुकड़ों में बाँट दिया
तुमने
ओ अदृश्य, विरोधाभास !
अवभोगे
अवडूबे
रहे सभी कथा-खण्ड
दूर से छू कर ही निकल गयीं घटनाएँ

भीतर वहुत सूखा रहा
हुआ नहीं सरावोर
देह भी न भीगी कभी इस प्रकार
कि साँसे न समा पायें
क्यों सारी दुनिया की
मनचीती वाते कभी
लगती रही मलीन
क्यों मन की दूर तहों मे बैठा रहा, अडिग
ऊसर एक उदासीन
हँसने का नाट्य किया
खुशियों का रूप धरा
कोरी आदत को सच्चाई माना मैंने
मेरे अनवीधे, बुझे
आसक्तिहीन प्यार !
एक ओर तर्क है
एक ओर संस्कार
दोनो तूफानों का
दुहरा है अन्धकार
किसको मैं छोड़ूँ
किस को स्वीकार करूँ
ओ मेरी आत्मा में ठहरे हुए इन्तजार !

भोर : एक लैण्ड्स्केप

अविरल जलते रजनी के दीपक मन्द हुए
अव वाह्य घड़ी का ठण्डा-सा आलोक जगा
भैरव के मन्द्र स्वरों के पहले कम्पन-सा
वे सात पहरुए उतर गये हैं पश्चिम में

ले अँधियारे का सिंहासन,
हल्की हो गयीं हवा की तिमिर दबीं साँस
श्रम की स्वर्गङ्गा के निशानों
जो लुप्तप्राय नक्षत्रों में है शेष रहे
प्रतिपल पीतल-से रंगहीन होते जाते,

तामस के शासन का प्रतीक
बुझता है वह अन्तिम प्रदीप
अन्तिम तारा
तम गढ़ के ढहते भारी कोट कंगूरो से,

यह प्रथम प्रदोप निमिप है नए उजेले का
जीवन के नये जागरण का
अब युग की अँधियारी रजनी मिटने को है
जनरवि का अग्र प्रकाश-चरण
अंकित हो रहा धरा के मैले आँचल पर
जिसमे मानवता छिपी धूप वन सोती है।

हेमन्ती पूनों

चाँद हेमन्ती
हवा बहती कटीली
चाँदनी फैली हुई है
ओस नीली

चाँदनी-डूबी हवा सुधि-गन्ध लाती
याद के हिम वक्ष से आँचल उड़ाती
चाँद के जब गोल बीसों आइनों मे
मोम की सित मूर्ति-सी गत आयु आती

हर निशा तक
पूर्णिमा बनती सजीली
चाँदली फैली हुई है
ओस नीली

आज जीवन चाँदनी रूठी हुई है
आयु छवि शतखण्ड है टूटी हुई है
जिन्दगी के चाँद का ठहराव कम है
आइनों की पाँत यों फूटी हुई है
पूर्णिमा भी इसलिए
लगती मटीली
चाँदनी फैली हुई
ओस नीली
आज दिखता है दही-सा चाँद शीतल
कौन जाने स्याह शीश चाँद हो कल
उड़े उजली धूप बनकर चाँदनी भी
आबनूसी तृप्ति-सी हो आयु उज्ज्वल
इसलिए हेमन्त की
यह मन्द ठिठुरन
तन छुवन से
उष्म तुम कर दो, रसीली।

आग और फूल

निकलती ही जा रही घड़ियाँ सुनहली
आयु के सबसे अधिक उज्ज्वल चरण की
ग्रीष्म के उस फूल-सी
जिसकी नई केसर हवा ने सोख ली
वह आग की पीली शिखा
नीले धुएँ की धारियाँ घेरे रही
जिसके प्रथम आलोक को
सीमान्त में जिसके रहे
पर्वत अँधेरे के खड़े

सुनसान की आवाज
आती ही रही नेपथ्य से
जो निगल जाना चाहती थी
जिंदगी के गीत को

ज्वालामुखी के द्वीप-सा
संघर्ष का यह लोक है
हिलती हुई धरती यहाँ
हिलते हुए आधार है
कमजोर मिट्टी की जड़ें
जमकर न जम पाती कभी
उठते बगूले दर्द के दु:ख के यहाँ
हर लहर पर आते नये भूचाल हैं
उजड़ा यह द्वीप बिकनी की तरह
फिर-फिर सदा
संघर्ष का अणुबम यहाँ जाँचा गया

यह व्यक्ति और समाज का
उत्तप्त मन्थन काल है
संक्रान्ति की घड़ियाँ बनी हैं शृंखला
बंदी हुई है देह
मन को बाँधने बढ़ते पतन के हाथ हैं
है फेन विष का फैलता ही जा रहा
अब डूबता अन्तिम ग्रहण की छाँह में
आलोक हत नक्षत्र मिट्टी से बना
जिसका कि पृथ्वी नाम है।

बस इसलिए उजड़ी धरा
यह फूल सूखा ही खिला
केसर बिना
वह आग की पीली शिखा
धुँधली रही, मंदी रही
उज्ज्वल न पूरी परिधि को जो कर सकी

वह भस्म कर पाई नहीं
नीले धुएँ को व्योम से
वह भूमि किन्तु न मिट सकी
आगत फसल की राय में
वह फूल मुरझाया नहीं
ऋतु रंग लाने के अमर विश्वास में
वह आग की पीली शिखा
उठती रही, जलती रही
आलोक कन तम से बचा
वह अग्नि बीजों को सतत बोती रही
फिर से नये सूरज उगाने के लिए।

दो पाटों की दुनिया

चारों तरफ शोर है
चारों तरफ भरापूरा है
चारों तरफ मुर्दनी है
भीड़ें और कूड़ा है

हर सुविधा एक ठप्पेदार—
अजनबी उगाती है
हर व्यस्तता
और अधिक अकेला कर जाती है
हम क्या करें
भीड़ और अकेलेपन के क्रम से कैसे छुटें ?

राहें सभी अन्धी हैं
ज्यादातर लोग पागल हैं
अपने ही नशे में चूर
वहशी हैं या गाफिल हैं

खलनायक हीरो हैं
विवेकशील कायर हैं
थोड़े से ईमानदार हैं
लगते सिर्फ मुजरिम हैं

हम क्या करें
अविश्वास और आश्वासन के क्रम से कैसे छूटें ?

तर्क सभी अच्छे हैं
अन्त सभी निर्मम हैं
आस्था के वसनों में
कंकालों के अनुक्रम हैं
प्रौढ़ा सभी कामुक हैं
जवान सब अराजक हैं
बुद्धिजन अपहिज हैं
मुँह बाये हुए भावक हैं

हम क्या करें
तर्क और मूढ़ता के क्रम से कैसे छूटें ?

हर आदमी में देवता है
और देवता बड़ा बोदा है
हर आदमी में जन्तु है
जो निशाचर से न थोड़ा है
हर देवतापन
हम को नपुंसक बनाता है
हर पैशाचिक पशुत्व
नये जानवर बढ़ाता है

हम क्या करें
देवता और राक्षस के क्रम से कैसे छूटें ?

निसर्ग वापसी

यह मिट्टी अपनी जगह निश्छल पड़ी हुई
कितनी आनन्दित है
यह पौधा—
अपने ही पत्तो मे लिपटा
धूप हवा लेता अपने मे मगन है
यह बेल पसरती है—सहज-सुख के धरातल पर
यह जल—
उधर बहता है जो बेरोक है, सुगम है
यह कीट है—
लेटा है चैन से अपने छोटे बिल मे
यह पक्षी मुक्त उडता है
या लौटता है मन करते
जहाँ घोसले की अनछुई ऊष्मा है
छाया भी सघन है

—और मैं, मुझे नीद कितनी प्यारी है
आत्मदान कितना प्यारा है
        परितोष कितना प्यारा है
पर एक मेरी आस-पास दुनिया है
हजारो तरह की चाबुके लिए हुए
जो रात-दिन
व्यर्थ मुझे पागलो-सा दौड़ाती है
एक नन्ही देह को चिराग-सा जलाती है
एक छोटी उम्र को बवण्डर बनाती !

ढाक-वनी

लाल पत्थर, लाल मिट्टी
लाल कंकड़, लाल बजरी
लाल फले ढाक के वन
डाँग गाती फाग कजरी
सनसनाती साँस सूनी
वायु का कठला खनकता
झींगुरों की खंजड़ी पर
झाँझ सा बीहड़ झनकता
कंटकित बेरी करोंदे
महकते हैं भाव झोरे
सुन्न हैं सागौन वन के
कान जैसे पात चौड़े
ढूह टीले, टौरियों पर
धूप-सूखी घास भूरी
हाड़ टूटे देह कुबड़ी
चुप पड़ी है गैल बूढ़ी
ताड़ तेंदु, नीम, रेंजर
चित्रलिखी खजूर पाँतें
छाँह मंदी डाल जिन पर
ऊगती हैं शुवल सातें
बीच सूने में—
वनैले ताल का फैला अतल जल
थे कभी आये यहाँ पर
छोड़ दमयती दुखी नल
भूख व्याकुल, ताल से ले
मछलियाँ थीं जो पकाई
श्राप से कारन जली ही
वे उछल जल में समाई
है तभी से साँवली
सुनसान जंगल की किनारी

है तभी से ताल की
सब मछलियाँ मनहूस काली
पूर्व से उठ चाँद आधा
स्याह जल में चमचमाता
वन चमेली की जड़ों से
नाग कसकर लिपट जाता
कोस भर तक केवड़े का
है गसा गुंजाक जंगल
उन कँटिली झाड़ियों मे
उलझ जाता चाँद चंचल
चाँदनी की रैन चिड़िया
गंध फलियों पर उतरती
मूँद लेती नैन धीरे
पाँख धीरे बन्द करती
गंध-घोड़े पर चढी
दुलकी चली आती हवाएँ
टाप हल्के पड़े जल मे
गोल लहरें उछल आएँ
सो रहा वन, ढूह सोते
ताल सोता, तीर सोते
प्रेतवाले पेड़ सोते
सात तल के नीर सोते
ऊँघती है रुंद
करवट ले रही है घास ऊँची
मौन दम साधे पड़ी है
टौरियों की रास ऊँची
साँस लेता है वियाबाँ
डोल जातीं सुन्न छाहे
हर तरफ गुपचुप खड़ी है
जनपदों की आत्माएँ
ताल की है पार ऊँची
उतर गलियारा गया है

नीम, कंजी इमलियो मे
निकल बंजारा गया है
बीच पेड़ो की कटन मे
है पड़े दो चार छप्पर
हाँड़ियाँ, मचिया, कठौते
लट्ठ, गूदड़, बैल बक्सर
राख, गोबर, चरी, आँगन
लेज, रस्सी, हल, कुल्हाड़ी
सूत की मोटी फतोई
चका, हँसिया और गाड़ी
धुँआँ कंडो का सुलगता
भौंकता कुत्ता शिकारी
है यहाँ की जिन्दगी पर
शाप नल का स्याह भारी
भूख की मनहूस छाया
जबकि भोजन सामने हो
आदमी हो ठीकरे-सा
जबकि साधन सामने हो
घन वनस्ती भरे जंगल
और यह जीवन भिखारी
शाप नल का घूमता है
भाँवरे हैं हल-कुल्हाड़ी
हल कि जिसकी नोक से
बेजान मिट्टी झूम उठती
सभ्यता का चाँद खिलता
जंगलो की रात मिटती
आइनों से गाँव होते
घर न रहते धूल कूड़ा
जम न पाता जिन्दगी पर
युगो का इतिहास घूरा

जंगली सुनसान बनकर
मृत्यु-सा जो प्रेत फिरता
खाद बन जीवन-फसल की
लोक मंगल रूप धरता
रंग मिट्टी का बदलता
नीर का सब पाप धुलता
हरे होते पीत ऊसर
स्वस्थ हो जाती मनुजता
लाल पत्थर, लाल मिट्टी,
लाल कंकड़, लाल बजरी
फिर खिलेंगे ढाक के वन
फिर उठेगी फाग कजरी।

भवानीप्रसाद मिश्र

सन्नाटा

तो पहले अपना नाम बता दूँ
फिर चुपके-चुपके धाम बता दूँ तुमको
तुम चौंक नहीं पड़ना, यदि धीमे-धीमे
मैं अपना कोई नाम बता दूँ तुमको।

कुछ लोग भ्रान्तिवश मुझे शान्ति कहते हैं
निस्तब्ध बताते हैं, कुछ चुप रहते हैं
मैं शान्त नहीं, निस्तब्ध नहीं, फिर क्या हूँ ?
मैं मौन नहीं हूँ मुझमें स्वर बहते हैं।

कभी-कभी कुछ मुझमें चल जाता है
कभी-कभी कुछ मुझमें जल जाता है
जो चलता है, वह शायद है मेंढक हो
वह जुगनू है, जो तुमको छल जाता है।

मैं सन्नाटा हूँ, फिर भी बोल रहा हूँ
मैं शान्त बहुत हूँ फिर भी डोल रहा हूँ
यह 'सर-सर' यह 'खड़-खड़' सब मेरी है।
है यह रहस्य मैं इसको खेल रहा हूँ।

मैं सूने में रहता हूँ, ऐसा सूना
जहाँ घास उगा रहता है ऊना
और झाड़ कुछ इमली के, पीपल के
अन्धकार जिनसे होता है दूना।
तुम देख रहे हो मुझको जहाँ खड़ा हूँ ?
तुम देख रहे हो मुझको जहाँ पड़ा हूँ ?

मैं ऐसी ही खण्डहर चुनता फिरता हूँ
मैं ऐसी ही जगहों में पला, बढ़ा हूँ।

हाँ. यहाँ किले की दीवारों के ऊपर
नीचे तलघर में या समतल पर, भू पर
कुछ जन-श्रुतियों का पहरा यहाँ लगा है
जो मुझे भयानक कर देती है छू कर।

तुम डरो नहीं, डर वैसे कहाँ नहीं है
पर खास बात डर की कुछ यहाँ नहीं है
बस एक बात है, वह केवल ऐसी है
कुछ लोग यहाँ थे, अब वे यहाँ नहीं हैं।

यहाँ बहुत दिन हुए एक थी रानी
इतिहास बताता उसकी नहीं कहानी
वह किसी एक पागल पर जान दिये थी
थी उसकी केवल एक यही नादानी।

यह घाट नदी का, अब जो टूट गया है
यह घाट नदी का, अब जो फूट गया है
वह यहाँ बैठ कर रोज-रोज गाता था
अब यहाँ बैठना उसका छूट गया है।

शाम हुए रानी खिड़की पर आती
थी पागल के गीतों को वह दुहराती
तब पागल आता और बजाता बंसी
रानी उसकी बंसी पर छुप कर गाती।

किसी एक दिन राजा ने यह देखा
खिंच गयी हृदय पर उसके दुख की रेखा
वह भरा क्रोध में आया औ' रानी से
उसने माँगा इन सब साँझों का लेखा।

रानी बोली पागल को जरा बुला दो
मैं पागल हूँ, राजा ! तुम मुझे भुला दो
मैं बहुत दिनों से जाग रही हूँ राजा !
बंसी बजवा कर मुझको जरा सुला दो।

वह राजा था हाँ, कोई खेल नहीं था
ऐसे जवाब से उसका मेल नहीं था
रानी ऐसे बोली थी, जैसे उसके
इस बड़े किले में कोई जेल नहीं था।

तुम जहाँ खड़े हो, यहीं कभी सूली थी,
रानी की कोमल देह यहीं झूली थी
हाँ, पागल की भी यहीं, यहीं रानी की
राजा हँस कर बोला, रानी भूली थी।

किन्तु नहीं फिर राजा ने सुख जाना
हर जगह गूँजता था पागल का गाना
बीच-बीच मे, राजा तुम भूले थे
रानी का हँस कर सुन पड़ता था ताना।

तब और बरस बीते, राजा भी बीते
रह गये किले के कमरे-कमरे रीते
तब मैं आया, कुछ मेरे साथी आये
अब हम सब मिल कर करते हैं मनचीते।

पर कभी-कभी जब पागल आ जाता है
लाता है रानी को, या गा जाता है
तब मेरे उल्लू, साँप और गिरगिट पर
अनजान एक सकता-सा छा जाता है।

टूटने का सुख

टूटने का सुख :
बहुत प्यारे बन्धनों को आज झटका लग रहा है,
टूट जायेंगे कि मुझ को आज खटका लग रहा है,
आज आशाएँ कभी की चूर होने जा रही हैं,
और कलियाँ बिना खिले कुछ पूर होने जा रही हैं,

विना इच्छा, मन विना,
आज हर बन्धन विना,
इस दिशा से उस दिशा तक छूटने का सुख !
टूटने का सुख ।

शरद का बादल कि जैसे उड़ चले रसहीन कोई,
किसी को आशा नहीं जिससे कि हो यशहीन कोई,
नील नभ में सिर्फ उड़ कर विखर जाना भाग जिसका,
अस्त होने के क्षणों में है कि हाथ सुहाग जिसका,
विना पानी, विना वाणी,
है विरस जिसकी कहानी,
सूर्य-कर से किन्तु किस्मत फूटने का सुख !
टूटने का सुख ।

फूल श्लथ-बन्धन हुआ, पीला पड़ा, टपका कि टूटा,
तीर चढाकर चाप पर, सीधा हुआ खिंच कर कि छूटा,
ये किसी निश्चित नियम, क्रम की सरासर सीढ़ियाँ हैं,
पाँव रखकर बढ़ रहीं जिस पर कि अपनी पीढ़ियाँ
विना सीढ़ी के बढ़ेंगे तीर के जैसे बढ़ेंगे,
इसलिए इन सीढ़ियों के फूटने का सुख !
टूटने का सुख ।

बूँद टपकी एक नभ से

बूँद टपकी एक नभ से,
किसी ने झुक कर झरोखे से
कि जैसे हँस दिया हो,
हँस रही-सी आँख ने जैसे
किसी को कस दिया हो;
ठगा-सा कोई किसी की आँख
देखे रह गया हो,

उस बहुत-से रूप को, रोमांच रोके
सह गया हो ।
बूँद टपकी नभ से
और जैसे पथिक
छू मुस्कान चौंके और घूमे
आँख उसकी, जिस तरह
हँसती हुई-सी आँख चूमे,
उस तरह मैंने उठाई आँख :
बादल फट गया था,
चन्द्र पर आता हुआ-सा अभ्र
थोड़ा हट गया था ।
बूँद टपकी एक नभ से,
ये कि जैसे आँख मिलते ही
झरोखा बन्द हो ले,
और नूपुर ध्वनि, झमक कर,
जिस तरह द्रुत छन्द हो ले,
उस तरह बादल सिमट कर,
चन्द्र पर छाये अचानक,
और पानी के हजारों बूँद
तब आये अचानक ।

सतपुड़ा के घने जंगल

~

सतपुड़ा के घने जंगल
नींद में डूबे हुए से,
ऊँघते अनमने जंगल

झाड़ ऊँचे और नीचे.
चुप खड़े हैं आँख मीचे,
घास चुप है, कास चुप है ।
मूक शाल, पलास चुप है ।

बन सके तो धँसो इन में,
धँस न पाती हवा जिनमें,
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल ।

सड़े पत्ते, गले पत्ते,
हरे पत्ते, जले पत्ते
वन्य पथ को ढँक रहे से
पंक दल में पले पत्ते ।
चलो इन पर चल सको तो,
दलो इनको दल सको तो,
ये घिनौने, घने जंगल
ऊँघते अनमने जगल ।

अटपटी-उलझी लताएँ,
डालियों को खींच खायें,
पैर को पकड़ें अचानक,
प्राण को कस लें कँपायें,
साँप सी काली लताएँ
बला की पाली लताएँ
लताओं के बने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल ।

मकड़ियों के जाल मुँह पर
और सिर के बाल मुँह पर,
मच्छरों के दंश वाले,
दाग काले-लाल मुँह पर,
वात-झँझा वहन करते,
चलो इतना सहन करते,
कष्ट से ये सने जंगल
ऊँघते अनमने जंगल ।

अजगरों से भरे जंगल,
अगम, गति से परे जंगल,
सात-सात पहाड़ वाले,
बड़े-छोटे झाड़ वाले,
शेर वाले, बाघ वाले,
गरज और दहाड़ वाले,
कम्प और कनकने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल ।

इन वनों के खूब भीतर,
चार मुर्गे, चार तीतर
पाल कर निश्चिन्त बैठे,
विजय पन के बीच पैठे,
झोंपड़ी पर फूस डाले
गोंड तगड़े और काले;

जब कि होली पास आती,
सरसराती घास गाती,
और महुए से लपकती
मत्त करती बास जाती,
गूँज उठते ढोल इन के,
गीत इनके गोल इन के,
सतपुड़ा के घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल ।
जागते अँगड़ाइयों में,
खोह-खड्डों, खाइयों में,
घास पागल, कास पागल,
शाल और पलाश पागल,
लता पागल, वात पागल,
डाल पागल, पात पागल,
मत्त मुर्गे और तीतर,

इन वनों के खूब भीतर;
क्षितिज तक फैला हुआ-सा
मृत्यु तक मैला हुआ-सा
क्षुब्ध, काली लहर वाला,
मथित, उत्थित जहर वाला,
मेरु वाला, शेष वाला,
शम्भु और सुरेश वाला
एक सागर जानते हो,
उसे कैसा मानते हो ?
ठीक वैसे घने जंगल,
ऊँघते अनमने जंगल;
धँसो इनमें डर नहीं है,
मौत का यह घर नहीं है,
उतर कर बहते अनेकों, कल-कथा कहते अनेकों,
नदी, निर्झर और नाले, इन वनों ने गोद पाले ।
लाख पंछी सौ हिरन-दल, चाँद के कितने किरन-दल,
झूमते वन-फूल, फलियाँ, खिल रहीं अज्ञात कलियाँ
हरित दूर्वा, रक्त किसलय, पूत पावन पूर्ण रसमय
सतपुड़ा के घने जंगल, लताओं के बने जंगल !

अभिव्यक्ति

अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है
मैं उसके ढंग नहीं सोचता
सोची हुई अभिव्यक्ति से
मैंने अपने को कभी व्यक्त नहीं किया
छुपता ही हूँ मैं उससे
अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है

मैं उसके ढंग नहीं सोचता
सोच कर नहीं रोया मेरा लड़का
और रोने ने उसे अभिव्यक्त किया
तौल कर नहीं हँसी मेरी लड़की
और हँसने ने उसे अभिव्यक्त किया
तुमने जमुहाई ली
सोच कर ली थी ?
नहीं; इसीलिए उसने तुम्हारी
समूची थकान को खोला
मछली को पकड़ो
तो वह पानी के लिये तड़पती है
हम आफ़त में पड जायें
तो एक दूसरे से सलाह लेते हैं
शेर गोली खा के
चट्टानें चबा जाता है !
अभिव्यक्ति तो
होती ही रहती है
मैं उसके ढंग नहीं सोचता !
पहाड़ के ढलान पर
किसी ने मुझे धक्का दे दिया
और मेरी जिन्दगी ही बदल गई
मेरी टाँग टूट गई
और अब मैं लँगड़ा कर चलने लगा हूँ
अभिव्यक्ति अब
थोड़ी कोशिश से हुआ करेगी
मगर मैं
उस कोशिश का
ढंग नहीं सोचता !
अभिव्यक्ति तो होती ही रहती है !

बुनी हुई रस्सी

बुनी हुई रस्सी को घुमायें उल्टा
तो वह खुल जाती है
और अलग-अलग देखे जा सकते हैं
उसके सारे रेशे
मगर कविता को कोई
खोले ऐसा उल्टा
तो साफ़ नहीं होंगे हमारे अनुभव
इस तरह
क्योंकि अनुभव तो हमें
जितने इसके माध्यम से हुए है
उससे ज्यादा हुए हैं दूसरे माध्यमों से
व्यक्त वे जरूर हुए हैं यहाँ
कविता को
बिखरा कर देखने से
सिवा रेशों के क्या दिखता है
लिखने वाला तो
हर बिखरे अनुभव के रेशे को
समेट कर लिखता है !

केदारनाथ अग्रवाल

घन-जन

घन गरजे, जन गरजे।
वन्दी सागर को लख कातर
एक रोष से
घन गरजे, जन गरजे।
क्षत-विक्षत लख हिमगिरि अन्तर
एक घोष से
घन गरजे, जन गरजे।
क्षिति की छाती को लख जर्जर
एक क्षोभ से
घन गरजे, जन गरजे।
देख नाश का ताण्डव बर्बर
एक बोध से
घन गरजे, जन गरजे।

आज नदी बिल्कुल उदास थी

आज नदी बिलकुल उदास थी
सोयी थी अपने पानी मे
उसके दर्पण पर

वादल का वस्त्र पड़ा था।
मैंने उसको नहीं जगाया
दवे पाँव घर वापस आया।

जाल और नकाब के बीच

दुःख मेरे सिरहाने खड़ा है
काल का जाल लिये :
सुख
मेरे पैताने खड़ा है
नकाव ओढे—
मुझसे मुँह छिपाये
मैं
वरवस आ गयी रात मे
नीद से झगड़ रहा हूँ
किन्तु सहानुभूति नही मिलती
और मैं
जाल और नकाव के वीच
पड़ा रह जाता हूँ
तिलमिलता।

फिर सवेरा होता है
फिर मेरे सुनसान में
सूरज पदार्पण करता है
और फिर
कर्म मुझे ढकेल देता है

न खतम होनेवाली सड़क पर
तमाम दिन कर्ता मारकर
          जीने के लिए।
भीड़ मुझे खा जाती है
और मैं
          उसके पेट में
          अन्धों से मिलता हूँ—
जिन्हें पहचानता हूँ
जो मुझे नहीं पहचानते :
          गूँगों से मिलता हूँ :
          बहरों से मिलता हूँ :
          भूखों से मिलता हूँ :
लेकिन
सब छूट जाते हैं पीछे।
भद्रगण—
घूरते निकल जाते हैं मुझे :
न वे मेर पास आते हैं :
          न मैं उनके पास जाता
मैं नहीं जानता :
          मैं क्या कहूँ ?—
और कहाँ जा रहा हूँ—
          और किसका हूँ ?
लेकिन हूँ —
          और वे हैं—
इस दृश्य में कहीं
जो मेरी समझ में नहीं आ रहा
बस शाम होते-होते
मुझे भारी लगने लगता है
          मेरा लिबास

और धूप की गरम गोद में
वैभव की चितवन के नीचे
मीठी मीठी नींद सुलाके
उसका दृढ़ अस्तित्व मिटाने

लेकिन गेहूँ नहीं हारता
नहीं प्रेम से विचलित होता
हँसिया से आहत होता है
तन की मन की बलि देता है;
पौरुष का परिचय देता है
सतत घोर संकट सहता है
अन्तिम बलिदानों में अपने
सबल किसानों को करता है।

धर्मवीर भारती

गैरिक वाणी

मेरी वाणी
गैरिक वसना
भूल गयी गोरे अंगों को
फूलों के वसनों में कसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी ।

अब विरागिनी
मेरा निज दुख, मेरा निज सुख
दोनों से तटस्थ रागिनी
अब विरागिनी
मेरी वाणी ।

चन्दन-शीतल
पीड़ा से परिशोधित स्वर में
उभरा एक नवीन धरातल
चन्दन-शीतल
मेरी वाणी ।

भटके हुए व्यक्ति का संशय
इतिहासों का अन्धा निश्चय
ये दोनों जिसमें पा आश्रय
बन जाएँगे सार्थक समतल

ऐसे किसी अनागत पथ का
पावन माध्यम भर है
मेरी आकुल प्रतिभा
अर्पित रसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी ।

जल-सी निर्मल
मणी-सी उज्जवल
नवल, स्नात
हिम धवल
ऋतु
तरल
मेरी वाणी

पराजित पीढ़ी का गीत

हम सब के दामन पर दाग बदनामी का दाग
हम सब की आत्मा में झूठ झूठ बोलने की शर्म
हम सब के माथे पर शर्म
हम सब के हाथों में टूटी तलवारों की मूठ ।

हम थे सैनिक अपराजेय जो पराजित न हो
पर हम थे बेबस लाचार
यह था कटपुतलों का खेल स्वामी के अधीन
ऊपर की कलई, पर कलई के थे सब हथियार ।

हम सब के अपने गीत
आखिर तक गाने की शर्त
पर जाने कैसे ऐसे बदले बोल
हमने गाया कुछ, पर कुछ निकला अर्थ

तुम क्या जानोगे ओ प्रभु !
उसके मन का कटु विशेष
जिसकी निष्ठा के आगे
गर्हित का छोटे से छोटे समझौते का लोभ ।

तुमने कब झेली संक्रान्ति
क्या तुम समजोगे ओ प्रभु !
इन गत्यवरोधों का दर्द
कैसे तरुणाई में ही
घुट मर जाते हैं विश्वास
प्राणों की समिधाएं जमकर हो जाती हैं दर्द
फिर भी यदि तुमको मंजूर
हमको भटकाओ कुछ और
यदि तुमको फिर भी मंजूर
सच्चाई की बाँहों में हम सब पाए मत ठौर

तो कम से कम करुणामय !
इतना तो दो ही वरदान
दो हमको फिर झूठे लक्ष्य
दो हमको फिर झूठे युद्धों का झूठा मैदान ।

तुम क्या जानोगे ओ प्रभु ?
संघर्षों के ही अभ्यासी ये प्राण
हो जाते कितने बेचैन
छिन जाते हमसे जब शस्त्र छिन जाते ईमान ।

दो हमको फिर झूठे युद्ध
दो हमको फिर झूठे ध्येय
हारेंगे फिर यह है तय
फिर उनको मानेंगे हम प्रभु कि हार
अपने को मानेंगे हम अपराजेय ।

हम सब के दामन पर दाग
हम सब की आत्मा में झूठ
हम सब के माथे पर शर्म
हम सब के हाथों में टूटी तलवारों की मूठ।

हम सब सैनिक अपराजेय

अन्दरूनी मौत के लिए

जरूरी नहीं कि कोई दर्दनाक वाकया घटे
को जवान मौत, कोई विस्फोटक दुःखान्त
चट्टान से किसी जहाज की टकराहट
          जरूरी नहीं है

होने को
यह कभी भी हो सकता है यहाँ
किसी अँधेरे मोड़ पर गला घोटकर
          मारे जाते हुए

किसी रहगीर की घिघियाती अमानुषिक चीख
भरी ट्रक के सामने आता हुआ बच्चा
          ओ ऽ ऽ ऽ

जरूरी नहीं कि तुम बेचैन हो
या सोचो कि यानी कि
सोचो ही नहीं
यह सब महज गाड़ी के शीशे के पार का
एक काँपता हुआ बेमानी दृश्य

अकस्मात पहिये के नीचे
कुचल जाय एक कबूतर··· और खून और पंख

पहिये के साथ घूमते हुए लगातार,
एक बार
या बार-बार और तुम सोचो
यानी कि कुछ सोचो ही नहीं
मुमकिन है ।

जरूरी नहीं कि कोई दर्दनाक वाकया घटे
बस यूँ ही किसी बम्बइया बरसात की दोपहर
तुम अनमने बैठे हो
खाली दिमाग खिड़की के पार समुद्र देखते हुए
और चौखट से झूलती
एक अकेली बूँद
खामोशी चू पड़ने के पहले
भरसक थमे, रुके, फिर गिरे
और शीशे पर एक लकीर बनाती चली जाय
और तुम अकस्मात पाओ
कि समुन्दर दो फाँक हो गया है
और एक लकीर उभर आयी है तुम्हारे अन्दर
अकस्मात चीख उठा है वहीं
अँधेरे मोड़ पर मारा जाता हुआ आदमी
ट्रक के सामने आता हुआ बच्चा
और तुम सब छोड़कर कूद पड़े हो
'डरो मत ! मैं हूँ ! मैं हूँ ! मैं हूँ !'
और बेखौफ तुमने हाथ दे दिया है पहिये और
डरे हुए कबूतर के बीच
या
जरूरी नहीं यह भी
कि तुम्हें याद आवे
सिवा एक रोज-रोज रोजमर्रा की मद्धिम मौन
शीशे पर धीरे-धीरे फिसलती हुई चारों ओर
तुम्हारे लिए
जरूरी नहीं कि कोई दर्दनाक वाकया घटे
कोई विस्फोटक दुःखान्त ।

सम्पाती

… यह भी अदा थी एक मेरे बड़प्पन की
कि जब भी गिरूँ तो गिरूँ मैं समुद्र पार :
मेरे पतन-तट पर गहरी गुफ़ा हो एक—
बैठूँ जहाँ मै समेट कर अधजले पंख
ताकि वे सनद रहें…;
जिनको मैं दिखा सकूँ कि पहला विद्रोही था मै
जिसने सूरज की चुनौती स्वीकारी थी
सूरज बेचारा तो अब भी अपनी जगह
उतना ही एकाकी वैसा ही ज्वलन्त है
मैंने, सिर्फ मैंने, बेफ़ायदा समझ कर अब
बन्द कर दिया है चुनौतियाँ स्वीकारना
सुखद है धीरे-धीरे बूढे होते हुए
गुफ़ा मे लेट कर समुद्र को पछाड़े खाते हुए देखना
कभी-कभी अब भी छलाँग कर समुद्र पार करने का
कोई दुस्साहसी स्वप्नदर्शी भटक कर इस
गुफ़ा मे आता है
कहता हूँ मै आ अनुज ! आ ओ अनुगामी तू मेरा आहार है
(क्योंकि, आखिर क्यो वह मुझे याद दिलाता है
मेरे उस रूप की, भूलना जिसे अब मुझे ज्यादा अनकूल है !)
उसके उत्साह को हिकारत से देखता हुआ
मै फिर फटकारता हूँ अपने अधजले पंख
क्योंकि वे सनद हैं
कि प्रामाणिक विद्रोही मै ही था, मै ही हूँ
नही, अब कोई संघर्ष मुझे छूता नही
वह मैं नही,
मेरा भाई था जटायु
जो व्यर्थ के लिए जा कर भिड़ गया दशानन से
कौन है सीता ?
और किसको बचाएँ ? क्यो ?
निरादृत तो आखिर मे दोनो ही करेंगे उसे

रावण उसे हार कर और राम उसे जीत कर
नहीं, अब कोई चुनौती मुझे छूती नहीं
- ....

गुफ़ा में शांति है....
....

कौन हैं ये समुद्र-विजय के दावेदार
कह दो इनसे कि यह सब बेकार है
साहस जो करना था कब का कर चुका मैं
ये क्यों कोलाहल कर शांति-भंग करते हैं
देखते नहीं ये
कि सुखद है मेरे लिए झुर्रियाँ पड़ती हुई पलके उठा कर
गुफा में पड़े-पड़े समुद्र को देखना....

पंख, पहिये और पट्टियाँ

वृद्ध याचकः
पहले मैं भूत भविष्य था, वृद्ध याचक था
अब मैं प्रेतात्मा हूँ
अश्वत्थामा ने मेरा वध किया था !
जीवन एक अनवरत प्रवाह है
और मौत ने मुझे बाँह पकड़ कर किनारे खींच लिया है
और मैं तटस्थ रूप से किनारे पर खड़ा हूँ
और देख रहा हूँ—
कि
यह युग एक अन्धा समुद्र है
चारों ओर से पहाड़ों से घिरा हुआ
और दर्रों से
और गुफ़ाओं से

उमड़ते हुए भयानक तूफ़ान चारों ओर से
उसे मथ रहे है
और उस बहाव में मन्थन है गति है;
किन्तु नदी की तरह सीधी नहीं
वल्कि नागलोक के किसी गह्वर में
सैकड़ों, केंचुल चढ़े, अन्धे साँप
एक दूसरे से लिपटे हुए
आगे पीछे
ऊपर नीचे
टेढ़े-मेढ़े
रेंग रहे हों
उसी तरह सैकड़ों धाराएँ, उपधाराएँ
अन्धे साँपों की तरह बिलबिला रही है।
ऐसा है यह अन्धा समुद्र
जिसे हम आज का भवप्रवाह कह सकते है।
और कुछ सफेद केंचुल ऊपर तैर आये है
सफेद पट्टियों की तरह,
ये पट्टियाँ गान्धारी की आँखों पर है,
सैनिकों के जख्मों पर है

मैंने अपनी प्रेतशक्ति से
सारे प्रवाह को
कथा की गति को बाँध दिया है,
और सब पात्र अपने स्थान पर स्थिर
हो गये हैं
क्योंकि मैं चीर-फाड़ कर हरेक की आन्तरिक
असंगति समझना चाहता हूँ
ये है वे पात्र
मेरी मन्त्रशक्ति से परिचालित वे
छायारूप मे आते है !

× × ×

मैं हूँ युयुत्सु
मै उस पहिये की तरह हूँ
जो पूरे युद्ध के दौरान में रथ में लगा रहा
पर जिसे अब लगता है कि वह गलत धुरी में लगा था।
और मैं अपनी उस धुरी से उतर गया हूँ!
मै संजय हूँ
जो कर्मलोक से वञ्चित है
मैं दो बड़े पहियों के बीच लगा हुआ
एक छोटा निरर्थक शोभाचक्र हूँ
जो बड़े पहियों के साथ घूमता हूँ
पर रथ को आगे नहीं बढ़ाता
और न धरती ही छू पाता है!
और जिसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है
कि वह धुरी से उतर भी नहीं सकता!
मै विदुर हूँ
कृष्ण का अनुगामी, भक्त और नीतिज्ञ
पर मेरी नीति साधारण स्तर की है
और युग की सारी स्थितियाँ असाधारण हैं
और अब मेरा स्वर सशयग्रस्त है
क्योकि लगता है कि मेरे प्रभु
उस निकम्मी धुरी की तरह हैं
जिसके सारे पहिये उतर गये हैं
और जो खुद घूम नही सकती
पर संशय पाप हैं और मै पाप नही करना चाहता!

कथा-गायन

उस दिन जो अन्धा युग अवतरित हुआ जग पर
बीतता नही रह-रह कर दोहराता है
हर क्षण होती है प्रभु की मृत्यु कहीं-न-कहीं
हर क्षण अँधियारा गहरा होता जाता है

हम सब के मन में गहरा उतर गया है युग
अँधियारा है, अश्वत्थामा है, संजय है,
है दासवृत्ति उन दोनों वृद्ध प्रहरियों की,
अन्धा संशय है, लज्जाजनक पराजय है!

पर एक तत्त्व है बीजरूप स्थित मन में,
साहस में, स्वतन्त्रता में नूतन सर्जन में,
वह है निरपेक्ष उतरता है पर जीवन में
दायित्व-युक्त, मर्यादित मुक्त आचरण में

उतना जो अंश हमारे मन का है
वह अर्द्ध-सत्य से, ब्रह्मास्त्रों के भय से
मानव-भविष्य को हर दम रहे बचाता
अन्धे संशय, दासता, पराजय से!

धूमिल

मोचीराम

राँपी से उठी हुई आँखों ने मुझे
क्षण भर टटोला
और फिर
जैसे पतियाये हुए स्वर में
वह हँसते हुए बोला—
बाबूजी ! सच कहूँ—मेरी निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है
जो मेरे सामने
मरम्मत के लिए खड़ा है

और असल बात तो यह है
कि वह चाहे जो है
जैसा है, जहाँ कहीं है
आजकल
कोई आदमी जूते की नाप से
बाहर नहीं है
फिर भी मुझे ख्याल रहता है
कि पेशेवर हाथों और फटे हुए जूतों के बीच
कहीं न कहीं एक अदद आदमी है

जिस पर टाँके पड़ते हैं,
जो जूते से झाँकती हुई अँगुली की चोट छाती पर
हथौड़े की तरह सहता है

यहाँ तरह-तरह के जूते आते हैं
और आदमी की अलग-अलग 'नवैयत'
बतलाते हैं
सबकी अपनी-अपनी शकल है
अपनी-अपनी शैली है
मसलन एक जूता है :
जूता क्या है—चकतियों की थैली है
इसे एक चेहरा पहनता है
जिसे चेचक ने चुग लिया है
उस पर उम्मीद की तरह देती हुई हँसी है
जैसे 'टेलीफून' के खम्भे पर
कोई पतंग फँसी है
और खड़खड़ा रही है
मैं महसूस करता हूँ—भीतर से
एक आवाज आती है—कैसे आदमी हो,
अपनी जाति पर थूकते हो।'
आप यकीन करें, उस समय
मैं चकतियों की जगह आँखें टाँकता हूँ
और पेशे में पड़े हुए आदमी को
बड़ी मुश्किल से निबाहता हूँ

एक जूता और है जिससे पैर को
'नाध कर' एक आदमी निकलता है
सैर को
न वह अकलमन्द है
न वक्त का पाबन्द है
उसकी आँखों में लालच है
हाथ में घड़ी है
उसे कहीं जाना नहीं है

मगर चेहरे पर
बड़ी हड़बड़ी है
वह कोई बनिया है
या बिसाती है
मगर रोब ऐसा कि हिटलर का नाती है
'इशे बाँद्धों, उशे काट्टो, हियाँ ठूक्को, वहाँ पीट्टो
घिश्शा दो, आइशा चमकाओ, जुत्ते को ऐना बनाओ
·· ओपफ ! बड़ी गर्मी है' रुमाल से हवा
करता है, मौसम के नाम पर बिसूरता है
सड़क पर आतियों-जातियो को
बनार की तरह घूरता है
गरज यह कि घण्टे-भर खटवाता है
मगर नामा देते वक्त
साफ 'नट' जाता है
'शरीफो को लूटते हो' वह गुर्राता है
और कुछ सिक्के फेक कर
आगे बढ जाता है
अचानक चिहुककर सड़क से उछलता है
और पटरी पर चढ़ जाता है
चोट जब पेशे पर पड़ती है
तो कहीं न कहीं एक चोर कील
दबी रह जाती है
जो मौका पाकर उभरती है
और अँगुली मे गड़ती है

मगर इसका मतलब यह नहीं है
कि मुझे कोई गलतफहमी है
मुझे हर वक्त यह ख्याल रहता है कि जूते
और पेशे के बीच
कहीं न कहीं अदद आदमी है
जिस पर टाँके पड़ते हैं
जो जूते से झाँकती हुई अँगुली की चोट
छाती पर

हथौड़े की तरह सहता है
और बाबूजी ! असल बात तो यह है कि जिन्दा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की
दलाली करके रोजी कमाने में
कोई फर्क नहीं है।
और यहीं वह जगह है जहाँ हर आदमी
अपने पेशे से छूटकर
भीड़ का टमकता हुआ हिस्सा बन जाता है
सभी लोगों की तरह
भाषा उसे काटती है
मौसम सताता है
अब आप इस बसंत को ही लो,
यह दिन को ताँत की तरह तानता है
पेड़ों पर लाल-लाल पत्तों के हजारों सुखतल्ले
धूप में सीझने के लिए
लटकाता है

सच कहता हूँ—उस समय
राँपी की मूठ को हाथ में सँभालना
मुश्किल हो जाता है
आँख कहीं जाती है
हाथ कहीं जाता है
मन किसी झुँझलाये हुए बच्चे-सा
काम पर आने से बार-बार इन्कार करता है
लगता है कि चमड़े की शराफत के पीछे
कोई जंगल है जो आदमी पर
पेड़ से वार कराता है
और यह चौंकने की नहीं, सोचने की बात है
मगर जो जिन्दगी को किताब से नापता है
जो असलियत और अनुभव के बीच
खून के किसी कमजात मौके पर कायर है

वह बड़ी आसानी से कह सकता है
कि यार। तू मोची नहीं शायर है,
असल में वह एक दिलचस्प गलतफहमी का
शिकार है
जो यह सोचता है कि पेशा एक जाति है
और भाषा पर
आदमी का नहीं, किसी जाति का अधिकार है
जबकि असलियत यह है कि आग
सबसे होकर गुजरती है
कुछ हैं जिन्हें शब्द मिल चुके हैं
कुछ हैं जो अक्षरों के आगे अन्धे हैं
वे हर अन्याय को चुपचाप सहते हैं
और पेट की आग से डरते हैं
जबकि मैं जानता हूँ कि 'इन्कार से भरी हुई एक चीख'
और 'एक समझदार चुप'
दोनो का मतलब एक है—
भविष्य गढ़ने में, 'चुप' और 'चीख'
अपनी-अपनी जगह एक ही किस्म से
अपना-अपना फर्ज अदा करते हैं

गाँव

मूत और गोबर की सारी गन्ध उठाये
हवा बैल के सूजे कन्धे से टकराये
खाल उतारी हुई भेड़-सी
पसरी छाया नीम पेड़ की।
डाँय-डाँय करते डाँगर के सींगों मे
आकाश फँसा है।
दरवाजे पर बँधी बुढ़िया
ताला जैसी लटक रही है।

(कोई था जो चला गया है)
किसी बाज के पंजों से छूटा जमीन पर
पड़ा झोपड़ा जैसे सहमा हुआ कबूतर
दीवारों पर आगें-जायें
चमड़ा जलने की नीली, निर्जल छायाएँ !

चीखों के दायरे समेटे
ये अकाल के चिह्न अकेले
मनहूसी के साथ खड़े हैं
खेतों में चाकू से ढेले।
अब क्या हो-जैसी लाचारी
अन्दर ही अन्दर घुन कर दे वह बीमारी।

इस उदास गुमशुदा जगह में
जो सफेद है, मृत्युग्रस्त है सूत-घबराया हुआ
जो छाया है, सिर्फ रात है
जीवित है वह—जो बूढ़ा है या अधेड़ है
और हरा है—हरा यहाँ पर सिर्फ पेड़ है।

चेहरा-चेहरा डर लटका है भयाक्रान्त
पर बाहर अवसाद है कुंठा. पीड़ा. ड
लगता है यह गांव नरक का
भोजपुरी अनुवाद है। प्रशासन की न

———